प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी
हेमचन्द्र-मोदी-पुस्तकमाला
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई ४

पहली बार
मार्च, १९५०

मुद्रक
रघुनाथ दिपाजी देसाई
न्यू भारत प्रिन्टिंग प्रेस,
६, केळेवाडी, बम्बई नं. ४

प्रकाशकका निवेदन

'हिन्दू धर्मकी समीक्षा' के बाद स्वनामधन्य पं० लक्ष्मणशास्त्री जोशीकी यह दूसरी पुस्तक 'जडवाद' प्रकाशित हो रही है। यद्यपि ये दोनों दो स्वतंत्र पुस्तकें हैं परन्तु एक दूसरेकी पूरक और सहायक हैं। जहाँ तक हम जानते हैं इस विषयपर शास्त्रीय ढंगसे लिखी हुई यह पहली पुस्तक है और तत्त्व-जिज्ञासुओंको विचारोंकी एक नई दिशाकी ओर मोड़ सकती है।

इस पुस्तकको भी प्रकाशित करानेका श्रेय बुद्धिवादी संघके मन्त्री बाबू बालचन्दजी नाहटाको है जो निरन्तर बुद्धिवादी साहित्यकी खोजमें रहते हैं। उन्होंने इस पुस्तकको हिन्दीमें लानेकी प्रेरणा ही नहीं की, अपने सुलेखक मित्र पं० सत्यदेवजी विद्यालंकारसे यह सरल सुबोध अनुवाद भी करा दिया। अपने प्रवास-कालमें महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायनने इस पुस्तककी भूमिकाके रूपमें जो कुछ पंक्तियाँ लिख देनेकी कृपा की है, उसमें भी नाहटाजीका हाथ है।

मूल लेखक पं० लक्ष्मण शास्त्रीजीकी इस पुस्तक-मालापर कृपादृष्टि है। आशा है कि उनकी और भी रचनायें हम हिन्दी पाठकोंके समक्ष उपस्थित कर सकेंगे।

१०-३-५० }

अनुवादकर्त्ताका निवेदन

धर्म और ईश्वरके नामसे खड़ा किया गया गोरख-धंधा कुछ ऐसा और इतना विचित्र है कि उसमें प्रत्येक मानव जन्मके साथ ही उलझ जाता है और मृत्युके बाद तक उससे मुक्त नहीं हो पाता। यद्यपि यह कहा जाता है कि 'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतरः' अर्थात् तर्ककी कसौटीपर जो पूरा उतरे, उसीको धर्म मानों। किन्तु इस समय धर्मके मामलेमें तर्क करना, सन्देह करना, शंका करना घोर पाप समझा जाता है। बुद्धि विवेक और तर्कके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा है। धर्मजीवी लोगोंने अपनी एक श्रेणी ही अलग बना ली है और धर्मपर उन्होंने एकाधिकार कर लिया है।

धर्म और ईश्वरके उक्त गोरख-धंधेसे मुक्ति दिलानेके कार्यमें 'जडवाद'से बड़ी सहायता मिलेगी। यह छोटी-सी पुस्तक पाठकोंको धर्म और अध्यात्म आदिकी रहस्यमय दुनियासे बाहर निकालकर प्रत्यक्ष व्यवहारके खुले क्षेत्रमें लाकर खड़ी कर देती है और दूसरोंकी आँखोंसे देखनेकी जगह अपनी आँखोंसे देखना सिखाती है।

हमारे देशमें जो धर्मातीत या धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्रकी स्थापना हुई है उसको सबल और सुस्थिर बनानेके लिए ऐसे साहित्यकी विशेष आवश्यकता है जो उसको उक्त गोरख-धंधेसे बाहर निकाल सके। 'हिन्दू धर्मकी समीक्षा' और 'जड़वाद' ये दोनों पुस्तकें इसी तरहकी हैं।

कलकत्तेके बुद्धिवादी संघके मंत्री श्री बालचन्दजी नाहटाकी प्रेरणासे मैंने इस उपयोगी पुस्तकका मराठीसे हिन्दीमें अनुवाद किया है और अनुवाद-कार्यमें श्री आनन्दवर्धन विद्यालंकारसे सहयोग मिला है। आप दोनोंका मैं हृदयसे आभारी हूँ।

अनुवादको यथासंभव सरल और सुबोध बनानेका पूरा प्रयत्न किया गया है।

४० ए, हनुमान रोड
नई दिल्ली, ११-२-५०

—सत्यदेव विद्यालंकार

भूमिका

पंडितप्रवर श्री लक्ष्मणशास्त्री जोशीका ग्रन्थ 'जड़वाद' संक्षिप्त और सरल भाषामें होनेपर भी बहुत ही गंभीर है। भारतीय तर्क-शास्त्रके वह एक निष्णात विद्वान् ही नहीं हैं, बल्कि यह भी भली प्रकार जानते हैं कि किसी सुगंभीर विषयको कैसे बोधगम्य बनाया जा सकता है। यह ग्रन्थ मराठीमें पहले निकल चुका था, किन्तु मेरे हाथोंमें उस समय आया, जब मैं अपना 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' लिख चुका था। यदि यह ग्रन्थ पहले मिल गया होता, तो कमसे कम उस समय तो मैंने अपना ग्रन्थ न लिखा होता। किन्तु मैं देखता हूँ कि हमारे दोनों ग्रन्थ एक दूसरेकी पुनरुक्ति बहुत कम करते हैं और अधिकतर एक दूसरेके पूरक हैं। शास्त्रीजीके ग्रन्थमें अपने घरकी खबर अच्छी तरह ली गई है और मेरेमें बाहरकी। हम दोनों समानधर्मा हैं, और बहुत दूरतक। जिस क्षेत्रमें मैं अपनेको अकेला सिपाही समझता था उसमें निरवधिकालमें नहीं, तत्काल ही इतने गंभीर प्रवर्धमान विद्वान्को देखकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई है, इसे सहृदय ही जानेंगे।

शास्त्रीजीकी पुस्तकके छोटे आकारको देखकर गोस्वामीजीकी यह पंक्ति याद आती है "रविमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रिभुवनतम भागा"। इस छोटेसे ग्रन्थकी एक एक पंक्तिपर ग्रन्थ-कर्त्ताके गंभीर अध्ययन और मननकी छाप है। हमारे देशमें अध्यातम-ज्ञानके नामपर जो अन्ध-तमिस्रका घन-पटल फैला हुआ है, उसके दूर करनेमें इस ग्रन्थसे सहायता मिलेगी, इसमें सन्देह नहीं। यह भी हर्षकी बात है कि भारतके जिस अंचलकी लंबी नाकोंके सामने यह तमस्तोम सबसे निविड है, उसीकी भाषा (मराठी) में यह ग्रन्थ प्रथम प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थमें आध्यातिमकताको पूरे नग्न रूपमें

दिखाया गया है,—यह तो नहीं कहा जा सकता, और पूरा नग्न करनेकी जगह नग्न-सा कर देना अधिक अच्छा है, जिसमें विद्वान् लेखकको सफलता मिली है। हमारे देशमें सभी अंधे अध्यात्मवादी ही नहीं होते रहे, कितने ही यथार्थवादी और भौतिक भी होते रहे, जिनके ऊपर प्रकाश डालना हमारा कर्तव्य है और इसके लिये पं० लक्ष्मणशास्त्रीसे अधिक क्षमताशाली व्यक्ति इस समय दुर्लभ है। आशा है, शास्त्रीजी इसके लिए भी समय निकालेंगे।

मुझे इस ग्रन्थकी भूमिकाके रूपमें बहुत लिखनेकी आवश्यकता नहीं, वस्तुतः मेरा 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' और शास्त्रीजीका 'जड़वाद' स्वयं एक दूसरेकी विस्तृत भूमिका हैं। मैने 'जड़वाद' का कहीं पयोग नहीं किया, क्योंकि हिन्दीमें 'जड' का प्रयोग अच्छे अर्थोंमें नहीं होता, यद्यपि संस्कृतमें यह उतना निकृष्ट नहीं माना गया है।

मुझे आशा है, हिन्दीके पाठक इस ग्रन्थका समुचित आदर करेंगे।

कलकत्ता,
१.–२–५०

राहुल सांकृत्यायन

प्रस्तावना

(मूल ग्रन्थकारकी)

श्री यशवन्त गोपाल जोशीने मुझसे वाद-विवेचन-मालामें 'अनीश्वरवाद' नामसे एक निबंध लिखनेका अनुरोध किया। मैंने उनसे कहा कि जड़वादके विना 'अनीश्वरवाद' पर लिखनेका कुछ भी महत्त्व नहीं है। जड़वाद और अनीश्वरवाद दोनों एक ही वादके दो पहलू हैं। जड़वाद मण्डनात्मक अथवा विधायक (Positive) पहलू है और अनीश्वरवाद खण्डनात्मक निषेधात्मक अथवा अभावात्मक (Negative) पहलू है। इसीलिए मैंने कहा कि जड़वादके अंगके रूपमें ही अनीश्वरवादपर कुछ लिखा जा सकता है। उन्होंने मेरे इस विचारको स्वीकार कर लिया। विधायक कल्पना ही निषेधात्मक कल्पनाका आधार है। जड़वादकी विचारधाराको ठीक तरहसे समझ लिया जाय, तो अनीश्वरवादका समझना कुछ भी कठिन नहीं रहता। यह तो अपने आप ही गलेके नीचे उतर जाता है। जड़वाद किंवा विज्ञान (Science) की बुद्धिसम्मत विचारधारा जिसके ध्यानमें ठीक तरहसे बैठ जाती है उसके ध्यान या बुद्धिमें ईश्वरके लिए कोई स्थान रह ही नहीं सकता। यदि कोई स्थान रह जाता है, तो उसके सम्बन्धमें यही कहना होगा कि वह उसके अन्य युक्तियुक्त विचारोंके साथ जरा भी मेल नहीं खाता और उसका कारण परम्परासे चले आनेवाली श्रद्धाद्वारा पाल-पोसकर रक्खी गई कल्पना है, जिसका वास्तविक आधार कुछ भी नहीं है।

तत्त्वज्ञान या आधुनिक विज्ञानकी मौलिक शैली अथवा उसके प्रारम्भिक तत्त्वोंकी जानकारी हुए विना प्रस्तुत निबन्ध पाठकोंको ठीक तरहसे समझमें न आ सकेगा। उदाहरणके लिए शुरूके पृष्ठोंमें प्रतिपादित ज्ञान-मीमांसा उनकी समझमें ठीक ठीक नहीं आ सकती, जिन्हें पूर्व और पश्चिमके तत्त्वज्ञानकी प्रमाणमीमांसा (Epistemology and Logic) की कुछ भी जानकारी नहीं है। वे उसके महत्त्वको पूरी तरह आँक नहीं सकते। उसके बादका विवेचन जीवशास्त्र तथा इन्द्रियविज्ञानके आधारपर किया गया है।

अनीश्वरवाद निबन्धमें पश्चिम और पूर्वकी ईश्वरको सिद्ध करनेवाली सारी ही युक्तियों (Argument) को आठ भागोंमें बाँटकर उनकी चर्चा की गई है। ये विभाग कम अधिक भी किये जा सकते हैं। उनको जो नाम इस निबन्धमें दिये गये हैं, उनसे भिन्न नाम भी अनेक दार्शनिकोंने दिये हैं।

यह निबन्ध तात्त्विक जड़वादके लिए लिखी गई केवल एक छोटी-सी भूमिका ही समझी जानी चाहिए। वैसे यह विषय बहुत बड़ा और व्यापक है। जड़ (Mattar energy), जीव (Life) और चेतन (Mind or Soul) तीनोंके पारस्परिक सम्बन्धके सिद्धान्तका प्रतिपादन यदि संक्षेपमें भी किया जाय तो उसके लिए मनुष्यद्वारा सम्पादित समस्त विद्याओंकी छान-बीन या अध्ययन करना होगा। इतना करनेकी शक्ति किसमें है ? जिनमें है उन्होंने भी आज-तक किसी भारतीय भाषामें इस विषयका विवरण इकट्ठा करनेका प्रयत्न नहीं किया। इससे पता चलता है कि हमारा अज्ञान कितना गहरा और असीम है।

जड़वादके सम्बन्धमें हमारा जो अज्ञान है उसके कारण हमारी प्रगति भी रुकी हुई है। जब तक हमारे साहित्य और विचारोंमें जड़वादको स्थान न मिलेगा, तब तक हमारी बुद्धिकी जड़ता या मूढ़ता नष्ट न होगी। जिसकी बुद्धि जड़-वादको नहीं समझ सकती, उसीको जड़ या मूढ़ कहना चाहिए। हमारी सामाजिक बुद्धिमें जो अंधपना और हमारे व्यवहारमें जो मंदपना पाया जाता है, उसको नष्ट करनेका सामर्थ्य तात्त्विक जड़वादमें ही है। कलात्मक कर्म और ज्ञानरूप विचारका आधार तात्त्विक तत्त्ववादसे दृढ़ और बलवान् होना है। उसके अभावमें ईश्वरवादके सुनहरे और आकर्षक परदेसे ढके हुए सामाजिक अन्यायों और मानवी दासताका अन्त न होगा और न्यायासनके सामने उनके विरुद्ध शुद्ध बुद्धिके पक्षमें कुछ निर्णय भी न हो सकेगा।

—लक्ष्मण शास्त्री जोशी

जडवाद

जडवादका सामान्य स्वरूप

जडवाद एक तत्त्वज्ञान है। इसमें विश्व-संबंधी तथा समाज-संबंधी दोनों तरहके तत्त्वोंका विचार किया जाता है। जीवन और जगत्के वास्तविक स्वरूपको मालूम करना तत्त्वज्ञानका काम है। पुरानी परिभाषामें जीव और जगत् अथवा आत्मा और सृष्टि-विस्तार आदिसे संबंध रखनेवाले विचारोंको तत्त्वज्ञान अथवा दर्शन कहा जाता है। परमार्थ, वस्तु, सत्य या तत्त्व आदिके बोधको अध्यात्मवादी दर्शनमें तत्त्वज्ञान कहा गया है। प्रमाणोंके द्वारा सब अंगोंकी परख करनेके बाद जो वस्तु अबाधित साबित होती है, वह तत्त्व है। तत्त्वका ही अर्थ है परमार्थ, वस्तु या सत्य। परमार्थके इस व्यापक अर्थके अनुसार जडवादी तत्त्ववेत्ता लोग परमार्थकी ही खोज किया करते हैं।

जडवाद और विज्ञानका संबंध

विज्ञान (Sciences) के लिये जरूरी ज्ञानसंबंधी सिद्धांत अथवा प्रमितिशास्त्र (Epistimology) और विज्ञानके लिये आवश्यक तथा वस्तुकी खोजके लिये सहायक वस्तुओंके सामान्य सिद्धांत (ontology) का ही अर्थ है जडवाद। जडवाद जगतके और जीवनके वास्तविक स्वरूप, विश्वमें विद्यमान विविधताओं, एकरूपता और संगतिके अर्थका पता लगानेके लिये किये गये सफल प्रयत्नोंका लेखा है। जडवाद

(१) न्यायसूत्र १।१।१, वैशेषिक सूत्र १।१।१. (२) न्यायभाष्य १।१।१.

निसर्गकी शक्तियोंपर विजय पानेमें यशस्वी हुए मानवी प्रयत्नोंका रहस्य है। जडवाद विज्ञानोंका निष्कर्ष है और वह विज्ञानका साधन भी है। विज्ञानकी जो साधारण सीमाएँ हैं और विज्ञानके लिये आधार बने हुए जो सामान्य तत्त्व हैं, उनको विज्ञानके समीक्षणसे सिद्ध करके विज्ञानके लिये प्रेरित करनेवाला तथा उसकी प्रगतिके लिये मदद करनेवाला एक मात्र तत्त्वज्ञान जडवाद ही है। यह तत्त्वज्ञान विज्ञानका पूरक शास्त्र है। वह विज्ञानकी अपेक्षा ऊँचा नहीं है।

तत्त्वज्ञान और विज्ञान

विज्ञानकी शाखा-प्रशाखायें जितनी मात्रामें बढ़ती, फलती-फूलती जाती हैं, उतनी मात्रामें तत्त्वज्ञानका[1] प्रयोजन समाप्त होता जाता है। विज्ञानकी शाखा प्रशाखाओंकी जितनी ही बढ़ती होती है, उतने अंशमें परंपरासे चले आनेवाले तत्त्वज्ञानोंकी आवश्यकता दिनोंदिन कम होती जाती है। जब प्रत्येक विज्ञान अपने अपने क्षेत्रमें आनेवाले विषयोंका विस्तारके साथ पर्यालोचन करके उनका रहस्य बताता है और सारे विज्ञान अपने अपने क्षेत्रकी वर्णनीय चीजोंका संकलित और सुसंगत ब्यौरा बताने लग जाते हैं, तब केवल कल्पनाके ही सहारे घट-पटकी खटपट करनेवाले दर्शन या तत्त्वज्ञान एक एक करके बेकार होने लगते हैं। उसके बाद विचारोंके सामान्य सिद्धान्त बतलानेवाले विज्ञानको जन्म देकरके वे स्वयं समाप्त होने लग जाते हैं। जो तत्त्वज्ञान अपनेको विज्ञानसे भी अधिक बढ़कर समझता है, उसमें या तो गहन किन्तु कोरी कल्पनाओंका जंजाल रहता है अथवा लोगोंको भ्रममें फँसानेवाली बातोंका छुपा हुआ समर्थन और संसारकी आँखोंमें धूल झोंकनेवाला कोरा पांडित्य रहता है।

---

(1) Antiduhring Introduction p. 32

ज्ञान और ज्ञेयके सम्बन्धोंकी मीमांसा

सब प्रकारके तत्त्वज्ञानोंमें संसारके बड़े बड़े दार्शनिकोंने या तत्त्ववेत्ताओंने सबसे बड़ा और सबकी जड़में रहनेवाला प्रश्न यदि कोई उठाया है, तो वह यही कि ज्ञान और ज्ञेय, संवित्ति और संवेद्यके बीच क्या सम्बन्ध है ? आद्य शंकराचार्यने तत्त्वज्ञानके शुरूमें इसी प्रश्नको पहले पहल हाथमें लिया है । संवित्ति और संवेद्य, विषय (object) और विषयी (subject) का एक दूसरेके साथ क्या सम्बन्ध है, इसीका ब्योरा उन्होंने अपने अध्यास भाष्यमें दिया है। न्याय-भाष्यकी प्रस्तावनामें वात्स्यायन मुनिने बताया है कि प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता ही तत्त्वज्ञानके सबसे अधिक सोचने विचारने योग्य और सब कहीं विद्यमान रहनेवाले अंग हैं और उन्हींको उन्होंने महत्त्व दिया है। पश्चिमी लोगोंके आजकलके तत्त्वज्ञानमें इसी प्रश्नको महत्त्वपूर्ण माना गया है ।

संवित् या संवेद्यका अर्थ है ज्ञान या भान (Consciousness) । संवेद्य वह है, जिसके सम्बन्धमें ज्ञान या भान होता है। संवेद्यहीको विषय या ज्ञेय कहते हैं । विषयी, चित्, चैतन्य, भान, भास, अनुभव, अनुभूति, संवेदना, संवित्ति—ये सारे शब्द संवित्का ही अर्थ लिये हुए हैं।'आँगनमें पेड़ है ?' इसका ज्ञान तब होता है जब मैं अपनी आँखको आँगनमें दौड़ाता हूँ। यह जानकारी आँगनमें खड़े पेड़की संवित् है। आँगनमें खड़ा आमका पेड़ संवेद्य या संवित्का विषय है। बाहरी इन्द्रियों और मन या ज्ञानेन्द्रियोंसे जो कुछ ज्ञान होता है, वह विषय है ।

प्रत्यक्ष, अनुमान, काम, क्रोध, प्रीति, द्वेष, इच्छा इत्यादि सब मनो-

---

(१) शारीरभाष्य १।१।१. (२) न्यायभाष्य १।१।१. (३) Ludwig Feuerbach p. 30 by Engels.

वृत्तियोंमें किसी न किसी विषयका भान रहता ही है। सारी मनोवृत्तियाँ संवेदनात्मक रहती हैं। सब तरहके विचारों और विकारोंमें संवित् या अनुभूतिका तागा पिरोया हुआ रहता है। सुख, दुःख, काम, क्रोध इत्यादि मनोवृत्तियाँ अलग अलग तरहके रंगोंकी संवेदना या अनुभव ही तो हैं।

संवेदनाके बाहरी और भीतरी दो तरहके विषय हैं। देह और उसकी आसपासकी दुनिया बाहरी विषय है। प्यास, भूख, काम, क्रोध, सुख, दुःख आदि सारी मनोवृत्तियाँ भीतरी विषय है। सुख, दुःख, प्यास, भूख, काम, क्रोध आदि मनकी अवस्थाओं (States of mind) की जानकारी जिसकी है, उसको ही होती है। किसीके मनकी हालत-की प्रत्यक्ष जानकारी दूसरेको नहीं हो सकती। दूसरेको उसका केवल अनुमान हो सकता है। एकको दूसरेके मनके विकारों और विचारोंका अनुमान उसके व्यवहारसे, देहपर विकारों और विचारोंके जो परिणाम होते हैं उनसे, या उसके बोलकर बतानेसे ही किया जा सकता है। इस लिये भीतरी विषयोंको खानगी या वैयक्तिक विषय कहा जा सकता है। एक ही तरहके बाहरी विषयोंका अनुभव कई व्यक्तियोंको हो सकता है। इस लिये बरट्रैंड रसेलकी भाषामें कहना हो, तो बाहरी विषयोंको सार्वजनिक (Public) कह सकते हैं। वही सूरज, वही समुद्र, वही चाँद, वही पेड़, वही घोड़ा या वही लड़का भिन्न लोगोंकी प्रत्यक्ष जानकारीमें आता है। मनोवृत्तियोंकी बात वैसी नहीं है। वे जिसकी हैं, उसीको प्रत्यक्ष रूपमें ज्ञात हो सकती हैं।

संवेदनाओंसे भिन्न स्वतन्त्र जगतका अस्तित्व

जड़वादका (Materialism) पहला सिद्धांत यह है कि संवेद्य वस्तु

(1) Scientific thought by C. D. Broad.

या पदार्थ (Being), संवित्तिसे बाहर स्वतन्त्र रूपमें विद्यमान रहते हैं। संवेद्य पदार्थ या विषय ही यह संसार है। संसार सच्चा पदार्थ है। मिथ्या, मायामय या कोरी कल्पना नहीं। मैं जो आमका पेड़ देख रहा हूँ, उसकी जानकारी मुझे या किसी औरको न भी रहे, तो भी वह बना रहता है। 'मैं पृथ्वीपर खड़ा हूँ' ऐसी जानकारी मुझे होती है। मैं और दूसरे आदमी या यह जानवरोंकी सृष्टि जिस समय नहीं थी, उस समय भी यह पृथ्वी अवश्य थी। उसकी जानकारी प्राप्त करनेवाला मैं या दूसरा कोई न भी रहे, तो भी जमीनके पृथक् अस्तित्वमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आ सकती। बुढ़ियाने मुर्गेका मुँह बंद भी कर दिया हो, तो भी सूरज उगे बिना नहीं रहता। इसी तरह संसारके अलग अलग पदार्थोंकी अलग अलग तरहकी हलचलें ज्ञाताके बगैर भी चालू रहती हैं। किसीकी भी संवेदनापर, प्रतीतिपर, अनुभवपर वे अवलंबित नहीं रहतीं। ज्ञाता न रहे, तो भी ज्ञेय तो रहता ही है। ऐसा तो नहीं है कि नाक न रहे तो बू भी न रहे और आँख न रहे तो रूप भी न रहे। ऐसा कौन कहेगा कि सवार न रहे, तो घोड़ा भी न रहे ?

बौद्ध आचार्य, बर्क्ले, ह्यूम, कैंट और हेगलकी विचारसरणी

यह कहनेवाले भी कुछ तत्त्ववेत्ता हैं कि अनुभव, संवित्ति या ज्ञान ही सही है और अनुभव, संवित्ति या ज्ञानका विषय झूठा है। ज्ञेयका ज्ञानसे भिन्न, ज्ञानके सिवाय स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है, —ऐसा कहनेवाले बौद्ध आचार्य भारतमें बहुत पुराने समयमें थे। धर्मकीर्त्ति नामके एक बड़े पंडित इस मतके माननेवाले सातवीं सदीमें हो गये हैं। संवेदनाओंके प्रवाहसे अलग संवेद्य नामका कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। बिशप बर्क्ले आदि आजकलके पश्चिमी तत्त्ववेत्ता भी

(१) प्रमाणवार्तिक।

यही कहते हैं। जागृति भी एक प्रकारका बहुत बड़ा सपना है। जिसे हम सपना कहते हैं, उसमें और जागृतिमें इतना ही अन्तर है कि सपना थोड़ी देर टिकता है। सपना सही होता है, किन्तु सपनेमें दीखनेवाला हाथी मिथ्या होता है। इसी तरह संवेदना या मनोवृत्तियाँ (States of mind) सही हैं। उनके मिथ्या होनेके बारेमें कभी सन्देह पैदा नहीं होता। बर्क्लेका कहना है कि उनका विषय मिथ्या होता है।

यह कहनेवाले तत्त्वज्ञ बहुत ही कम हुए हैं कि ज्ञान या संवेदनाओंसे बाहर एक पृथक् संसार विद्यमान नहीं है। विशप बर्क्लेने यह अवश्य कहा है कि संवेदनाएँ सच्ची हैं और संवेदनाओंका विषय सच्चा नहीं है, तो भी उसने यह बात कही है कि संवेदनाको अनुभव करनेवाले अनगिनत जीव हैं और उन संवेदनाशील जीवोंसे अलग एक वासनात्मक परमेश्वर है। परमेश्वरी वासनाएँ सदा बनी रहनेवाली हैं और उनकी शासन-शक्तिके कारण ही पदार्थोंकी संवेदनाओंके प्रवाह प्रवृत्त हुए हैं। दिव्य परमेश्वरी वासना (Volition of God) का अर्थ यह है कि वह जीवोंकी संवेदनाओंसे बाहर स्वतंत्र चीज है। इसलिये अपनी संवेदनाओंसे बाहर कुछ स्वतंत्र चीज है, इसके लिए कोई प्रमाण नहीं, ऐसा कहना ही मिथ्या है, यह बर्क्लेके सिद्धांतसे ही सिद्ध होता है। इस बारेमें बर्क्लेकी अपेक्षा भारतके धर्मकीर्ति वगैरह आचार्योंने ही अधिक ठीक बातें कही हैं। उन्होंने केवल जीवित व्यक्तियोंकी संवेदनाओंको ही स्वीकार किया है।

ह्यूम जैसे तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि, संवेदनाओंकी उपस्थिति या अनुभूतिकी उपस्थितिके बारेमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। किन्तु इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है कि संवेद्य पदार्थ (object) जैसेके तैसे, अनुभूतिसे बाहर, अनुभूतिके बिना पृथक् रूपमें हैं, या

नहीं । ये तत्त्वज्ञ बाहरी संसारकी सचाईके सम्बन्धमें सन्देह ही प्रकट करते हैं । इन तत्त्ववेत्ताओंने अज्ञेयवाद (Agnosticism) नामकी नई विचार-सरणीको जन्म दिया है ।

इन दोनों मतोंको जड़वादी तत्त्वज्ञ स्वीकार नहीं करते। कैंटने वास्तविक जगत् (the thing in itself) और बुद्धिगम्य जगत् (Phenomenon) नामसे जगत्के दो हिस्से किये हैं। कैण्टका कहना है कि वास्तविक जगत्का तात्पर्य ही है—परमार्थ वस्तु या सत्य। यह सत्य (objective reality) मनुष्यके काबूसे बाहरका है। बुद्धिगम्य जगत् सत्य पदार्थका झूठा दिखावा है। इस दिखावेसे सत्यपर परदा आ गया है। कैंटके जगत्के इस बँटवारेको जड़वाद स्वीकार नहीं करता। बौद्धोंमें वैभाषिक पक्षके आचार्य ऐसा कहा करते थे कि बाह्यार्थ या बाहरी बातोंकी साक्षात् जानकारी भले ही सम्भव न हो, तो भी अंतःकरणमें वृत्तिके रूपमें उनके जो परिणाम घटित होते हैं, उनपरसे बाहरी बातोंके अस्तित्वका अनुमान किया जा सकता है। हेगल (Hegel) ने कैंटके मतका पूरी तरह खण्डन कर दिया है। ज्ञान या अनुभव किसी न किसी पदार्थका तो होता ही है। इसका कुछ भी अर्थ नहीं है कि जिसका ज्ञान होता है या जिसका कोई विषय नहीं है, ऐसा ज्ञान या अनुभव भी होता है। 'बिना माँका बच्चा' इस वाक्यके समान ही वह वाक्य निरर्थक है।

जगत् सत्य है और उसका ज्ञान भी होता रहता है

वास्तविक जगत् यदि अपने नियन्त्रणसे बाहरका हो और वह अपने ज्ञान या अनुभवका विषय न बनता हो, तो हम यह भेद ही नहीं कर सकते कि अमुक ज्ञान या अमुक अनुभव ठीक है और अमुक मिथ्या। किसीके भी और किसी भी ज्ञानसे वास्तविक जगत्की जानकारी न हो

सकनेसे सारे ज्ञान मिथ्या ठहरेंगे। सभी लोग एक ही जैसे मूर्ख और भ्रममें फँसे हुए सिद्ध हो जायँगे। सभी पागल सिद्ध होंगे और अपनी जानकारीका सारा संसार पागलोंका संसार हो जायगा। अच्छे बुरेका निर्णय और सच झूठका अन्तर आदि सारे विचार निरर्थक हो जायेंगे।

जो तत्त्ववेत्ता ऐसा बताते हैं कि इस बाहरी दिखावेके पीछे वास्तविकता छिपी हुई है और उसकी जानकारी हो नहीं सकती, उनसे पूछिये कि जो सचाई मालूम नहीं हो सकती, उसकी संवेदना नहीं होती—यह आपको कैसे पता चला ? सत्य नामके उस पदार्थ (The thing in itself) के अस्तित्वका पता चले बिना उसके सम्बन्धमें किसी भी प्रकारका वर्णन करना कैसे संभव है ? वह पदार्थ यदि किसी भी उपायसे अपनेको मालूम पड़ गया हो, तो यह कहना कि उसका ज्ञान हो ही नहीं सकता, यह तो अपनी कही बातको अपने ही मुँहसे झूठा ठहराना है।

बाहरी स्वतन्त्र संसारका अस्तित्व है और उस जगत्की ठीक ठीक जानकारी हो सकती है, यह बात जिनको स्वीकार नहीं है, उनके लिये ऐसा कहना होगा कि उन्हें कोई भी विज्ञान प्रमाणके रूपमें स्वीकार नहीं है। सारे विज्ञान (sciences) यह स्वीकार करके ही चल रहे हैं कि जगत्का पृथक् अस्तित्व है और उसका सही सही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा न होता, तो दूरबीन लगाकर नये नये तारोंकी खोज करनेका प्रयत्न ज्योतिषियोंने क्यों किया होता ? पदार्थ-विज्ञानके और जीव-शास्त्रके पंडितोंने खुर्दबीनसे बारीक-बारीक वस्तुओंका पता चलानेका प्रयत्न क्यों किया होता ? गणित शास्त्र भी तो ज्ञेय पदार्थोंकी गिनतीका और परिमाणका शास्त्र है। बाहरी वस्तुओंकी जानकारी ही यदि मनुष्यके लिए असम्भव होती, तो उन वस्तुओंकी गिनती और परिमाणका विचार करनेकी क्या आवश्यकता थी ?

पदार्थ और पदार्थोंके धर्म झूठे ही हैं, तो सारे ही विज्ञान अप्रामाणिक सिद्ध होंगे। विज्ञानका अभिप्राय है, सच्चाईका पता चलानेवाले अनगिनत व्यक्तियोंके असीम प्रयत्नोंका अमृततुल्य फल। वह फल सदा ही अरुचिकर और सड़ा हुआ है,—ऐसा कहनेवाली विचारसरणी केवल वितंडावाद ही होगी। इस तरहकी विचारसरणीको बतलानेवाला तत्त्वज्ञान बेकारका पांडित्य है। फिर तो यही कहना चाहिये कि वह तत्त्वज्ञान मानवकी प्रगतिको मारनेवाला है, उसको दुर्बल और नपुंसक बनानेवाला है।

ज्ञात सत्य और अज्ञात सत्य

जगत्का बाहरी मायावाला दिखावा और असंवेद्य सत्य वस्तु ये दो विभाग कुछ तत्त्ववेत्ता मानते हैं। जड़वादको यह विचारसरणी भी स्वीकार नहीं है। जड़वादी तत्त्वज्ञ इतना ही अन्तर मानते हैं कि एक तो वह जगत् है, जिसका पता चल गया है और दूसरा वह जगत् है, जिसका अभीतक पता नही चल पाया। ज्ञानकी प्रगति निरंतर की जा सकती है। पदार्थोंके जिन रूपोंका अब तक पता नहीं चला है, उन्हें प्रयत्न करके जाना जा सकता है। अज्ञात पदार्थ ज्ञात पदार्थसे जुड़े हुए जगतका ही हिस्सा है। ज्ञात पदार्थोंका क्षेत्र बढ़ सकता है, तो अज्ञातका कम भी हो सकता है। विज्ञानका अब तक हुआ विकास अथवा उसका अब तकका इतिहास यही कहता है कि पदार्थोंके अनेक अज्ञात रूप विज्ञानके प्रकाशमें आ सकते हैं। यही विज्ञानके इतिहासका रहस्य है।

मनुष्यका कोई भी ज्ञान निरन्तर पूरी तरह सच नहीं रहता। छोटी सचाईसे बड़ी सचाईकी ओर जाना ही प्रगतिका लक्षण है। प्रगतिशास्त्रकी जड़में यही विश्वास काम कर रहा है कि अज्ञात जगत्का प्रयत्न करने पर पता लगाया जा सकता है। जो ज्ञान नया नया प्राप्त

हुआ है, वह पहलेसे प्राप्त किये गये ज्ञानके भाण्डारको लगातार भरता रहता है। उसके कारण सभी प्रकारके ज्ञान अथवा जानकारीकी वार वार शुद्धि और वृद्धि होती रहती है।

सारी सचाइयोंका पूरा पूरा ज्ञान या ब्रह्मज्ञान असम्भव है

कुछ तत्त्ववेत्ताओंका यह मत है कि जगतकी जड़में एक नित्य, शास्वत, गूढ़ तथा रहस्यमय सत्य है। उसका ज्ञान होनेसे जीवन कृतार्थ हो सकता है अथवा निःश्रेयसकी सिद्धि हो जाती है। इस बड़ी पूरी सचाई (Absolute Truth) का पता बतानेवाला अध्यात्मशास्त्र या ब्रह्मविद्या है, वही सब विद्याओंमें बड़ी और पूर्ण विद्या है। संसारके अध्यात्मवादी तत्त्ववेत्ताओंका यही कहना है। उनके इस मतके लिये उनके कथनके सिवाय और दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। लगातार प्रयत्न करते रहनेसे लोगोंको संसारका सापेक्ष सत्य स्वरूप और अपना स्वरूप थोड़ा थोड़ा करके समझमें आता है। यह ज्ञान बढ़ता रहनेवाला या विकासशील है। सापेक्ष सत्यका प्रतिपादन विज्ञान (Positive Science) किया करता है। उस सत्यसे अलग पूर्ण सत्यका विचार अपनेको और दूसरोंको भी धोखेमें रखनेके लिये ही गढ़ा गया है। सापेक्ष सत्यका मतलब यह नहीं है कि वह एक दृष्टिसे सही और दूसरी दृष्टिसे मिथ्या ठहरनेवाला होता है। किन्तु यह है कि जिसमें नये नये सत्योंकी लगातार भरती हो सकती है और जिसके नये नये अज्ञात अंगों और उपांगोंका ज्ञान होना संभव होता है, वही सापेक्ष सत्य है। ज्ञानका सारा इतिहास यही सिद्ध करता है। उदाहरणके लिये, रसायन शास्त्रमें नये नये संयुक्त द्रव्य (Compounds) आज प्रकाशमें आ रहे हैं। पहले जिनका पता नहीं था, ऐसे बहुतसे

(1) Ludwig Feuerbach p. 25

द्रव्य जिस तरह हाथ लगते जा रहे हैं, उसी तरह मनुष्य अपने प्रयत्नोंसे नये नये द्रव्य बनाता भी जा रहा है। नई नई मशीनें लोगोंको मालूम होती चली जा रही हैं। वे मशीनें पहले नहीं थीं और लोगोंको उनकी जानकारी भी नहीं थी। पहले जो थीं और जो नहीं थीं,—ऐसी दोनों तरहकी सच्चाइयाँ मनुष्यने अपने प्रयत्नोंसे मालूम की हैं।

भारतका वेदांत और यूरोपकी हेगलकी ब्रह्मविद्या संपूर्ण सत्यको बतानेके लिये ही प्रकट हुई हैं,—यह वेदान्ती और हेगल दोनों कहते हैं। वेदान्तियोंका और हेगलका यह सम्पूर्ण सत्य केवल खयाली पुलाव या कपोल-कल्पना है। उसका मनुष्यके जीवनके व्यवहार अथवा उसके प्रतिदिनके जीवनसे कोई सरोकार नहीं है। मनुष्यके सारे कारोबार पूर्ण सत्यके प्राप्त हो जानेपर समाप्त हो जाने चाहिये। किन्तु वेदान्ती और हेगलके कारोबार पूर्ण सत्यका पता चल जानेके बाद भी चालू रहते हैं। मनुष्य क्यों काममें लगना चाहता है? कुछ न कुछ प्राप्त करनेके विचारसे। जिन्हें जगत्की वास्तविकताका पता लग गया उनकी हलचल क्यों बन्द नहीं हो जाती? सारी वास्तविकताके मालूम हो जाने पर फिर कुछ और जाननेके लिये किसी भी तरहकी उछल-कूद करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। जो बात मिथ्या है, उसे प्राप्त करनेके लिये जान बूझकर कौन प्रयत्न करेगा? सम्पूर्ण सत्य या वास्तविकताके प्राप्त हो जाने पर जो पदार्थ बच जाता है, वह सब झूठा है। उस झूठे पदार्थके लिये कौन प्रयत्न करेगा? जिनके प्रयत्न अभी चालू हैं, समझना चाहिये कि अभी उन्हें वास्तविकता मालूम नहीं हुई है। विवेकसे काम करनेवाला मनुष्य समझ-बूझकर जो भी प्रयत्न करता है, वह अभी तक प्राप्त न हुई सच्चाईके लिये ही करता है। उपनिषदोंने और शंकराचार्यने कहा है कि संपूर्ण सत्यके प्राप्त हो जानेपर सारी हलचल बंद हो जाती है[1]। सचाईका

(१) ब्रह्मसूत्रभष्य–शंकराचार्य १।१।४

कोई अन्त नहीं है। वह कभी भी पूरी तरह अपनेको मालूम नहीं हो सकती। थोड़ी थोड़ी करके ही उसकी जानकारी बढ़ती रहती है।

ज्ञान वस्तुपर निर्भर है

ज्ञान अथवा संवेदनासे बाहर विषय अथवा पदार्थका स्वतन्त्र अस्तित्व है, इस सिद्धान्तके साथ जुड़ा हुआ दूसरा सिद्धान्त यह है कि ज्ञान पदार्थ या वस्तुपर निर्भर है, वस्तु या पदार्थ ज्ञानपर निर्भर नहीं। वस्तु या पदार्थका अस्तित्व ज्ञान अथवा संवेदनासे पहले भी होता है और ज्ञान अथवा संवेदनाका अस्तित्व वस्तु या पदार्थके अस्तित्वपर निर्भर है। वस्तु पहले होती है कि ज्ञान या संवेदना? इस प्रश्नका उत्तर तो यह है कि वस्तु या पदार्थ पहले होता है और ज्ञान अथवा संवेदना पीछे, जो कि वस्तु या पदार्थपर निर्भर होता है। ज्ञान वस्तुतंत्र है,—यह सिद्धान्त सभी प्रकारके ज्ञानों तथा संवेदनाओंपर लागू है। प्रत्यक्ष अनुभव (direct apprehension) तो वस्तुके पहले हुए विना हो ही नहीं सकता। मेरे आँगनमें आमका पेड़ होता है, तभी तो उसके मुझे दर्शन होते हैं। नाश हुई वस्तुकी याद, भविष्यमें होनेवाले घटनाक्रमका अनुमान, अतीत अथवा भविष्यके सम्बन्धमें कल्पना, मिथ्या पदार्थके सम्बन्धमें भ्रम इत्यादि जो भी संवेदनायें होती हैं, वे वस्तु या पदार्थपर कहाँ निर्भर हैं, ऐसा प्रश्न किया जा सकता है। थोड़ी दूरदृष्टिसे विचार करते ही इस प्रश्नका उत्तर मिल जाता है। याद या स्मृति अनुभवपर ही तो निर्भर होती है। पिता जिस समय जीवित थे, उस समयके अनुभवके संस्कारोंके कारण ही तो स्वर्गीय पिताका स्मरण होता है। 'आज पूर्णिमा है; इस लिये शामको चाँद प्रकट होगा,'—यह भविष्यकालीन वस्तुके सम्बन्धमें अनुमान किया जाता है। किन्तु इस अनुमानकी जड़में भी पिछली पूर्णिमाओंको हुए पूर्ण चन्द्रका दर्शन तो विद्यमान है। समुद्रयात्राके लिये जानेवाले किसी

आत्मीय जनकी नौका तूफ़ान आ जानेपर डूब सकती है, यह भयावह कल्पना भी तो इसी लिये होती है कि यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि तूफ़ानमें नौका डूब जाती है। स्वप्नमें दस सिरवाले साठ फीट ऊँचे राक्षसकी भ्रान्त कल्पनाका सम्बन्ध भी पहले अनुभव की गई वस्तुके साथ है,—इसका पता उस भ्रान्तिके विषयोंको अलग अलग करनेसे लग जाता है। सिर, साठ फीटकी ऊँचाई, आदि सब सत्य पदार्थ हैं। उनका उलटा-सुलटा जोड़ स्वप्नमें मिल जानेसे हम उसको भ्रान्ति कहने लग गये हैं।

ज्ञान अथवा संवेदना वस्तुपर निर्भर है,—इसका वर्णन दो प्रकारसे किया जा सकता है। एक प्रत्यक्ष और दूसरा अप्रत्यक्ष रीतिसे। ज्ञानमें मालूम होनेवाली वस्तु या पदार्थका उसके अवयवों अथवा उसके समान किसी वस्तुका पहले अस्तित्व होना यह वस्तुपर ज्ञानके निर्भर होनेका एक सबूत है। उसका अप्रत्यक्ष रूप इस प्रकार है कि ज्ञाताका शरीर हवा, पानी, अन्न आदिके बिना टिक नहीं सकता। इसलिये शरीरको धारण करनेवाली वस्तुएँ अप्रत्यक्ष रूपसे ज्ञान अथवा संवेदनाका कारण बन जाती है। बिजली, उसको पैदा करनेवाले यन्त्र, परदा, रंगभूमि इत्यादिका अस्तित्व जैसे चित्रपटके दर्शनका अप्रत्यक्ष कारण होता है, वैसे ही संवेदनाका अप्रत्यक्ष कारण बननेवाली अनेक वस्तुयें हैं। रुधिरका प्रवाह बंद हो जाय अथवा साँसके काम आनेवाली हवा ही बंद हो जाय, तो संवेदना भी बंद हो जाती है।

पढ़े-लिखे समझदार मनुष्यके ज्ञानके स्वरूप और अपढ़ जंगली मनुष्यके ज्ञानके स्वरूपमें जो महान् अन्तर होता है, उसका कारण तो वे सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, जिनमें वे रहते हैं। और तो और, भाषा नामक साधनका भी ज्ञानके स्वरूपपर बहुत अधिक असर पड़ा है। धर्मके

विकासका इतिहास पढ़नेसे पता चलता है कि समाजकी प्रारम्भिक स्थितिकी विश्व-सम्बन्धी कल्पना और सुधारके युगके बादकी उसके सम्बन्धमें पैदा हुई कल्पना, दोनोंमें कितना बड़ा अन्तर पैदा हो गया है। इसका कारण परिस्थितियोंमें पैदा हुआ अन्तर ही तो है। मनुष्य, जिन कल्पनाओंको समाजमें जन्म देता है और स्वभावतः जो प्रयत्न करता है, उसका ही तो उसके विचारपर प्रभाव पड़ता है।

ज्ञान वस्तुपर निर्भर है। इसीलिये तो उसको प्रामाणिक या अप्रामाणिक ठहराया जाता है। ज्ञान और वस्तुके बीचका मेल यदि ठीक है, तो उस ज्ञानको सत्य अथवा प्रामाणिक माना जाता है। यदि उनमें मेल ठीक न हुआ, तो उसको मिथ्या, भ्रान्त अथवा अप्रामाणिक ठहराया जाता है। इसीलिये ज्ञानकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता वस्तु या अर्थपर निर्भर है। प्रमाणभूत ज्ञानको ही तो यथार्थ कहा जाता है। अर्थका मतलब है ज्ञानका विषय (Object)। यथार्थका मतलब हुआ अर्थके सर्वथा अनुरूप। इसका उलटा अयथार्थ ज्ञान कहा जायगा।

प्रत्यक्ष अनुभवमें इन्द्रियोंका अर्थ अथवा पदार्थके साथ सम्बन्ध बहुत ही समीपका होगा। न्यायदर्शन और पूर्व-मीमांसामें इसे 'इन्द्रियार्थसंनिकर्ष' कहा है, उसका अभिप्राय इन्द्रिय और अर्थका निकट सम्पर्क या सम्बन्ध ही है। प्रत्यक्ष अनुभवका यही असाधारण कारण है।

इन्द्रिय क्या है? शरीरके भीतरके ज्ञान-तन्तुओंका ही नाम तो इंद्रिय है। आँख, कान, नाक, त्वचा, जिह्वा आदिके स्थानमें जो ज्ञानतन्तु हैं, उन्हींके कारण तो ज्ञान अथवा संवेदना पैदा होती है। ज्ञानतन्तुओंका पदार्थके साथ सम्बन्ध–संयोग होते ही प्रत्यक्ष प्रतीति

(१) न्यायदर्शन १।१।४, पूर्वमीमांसा १।१।४

होती है। आँखके ज्ञानतन्तुओंके साथ पदार्थके प्रकाशका सम्बन्ध होते ही वह दीखने लगता है। गरम या ठंडे बर्तनके साथ त्वचाका सम्पर्क होते ही गरम या ठंडे की प्रतीति होती है।

प्रत्यक्ष प्रतीति ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है

प्रत्यक्ष प्रतीतिमें पदार्थका निकट सम्बन्ध होनेके कारण ही प्रत्यक्ष अनुभव सब प्रकारके ज्ञानका आधार[१] माना गया है। मनुष्यकी जिज्ञासाकी पूर्ति या तृप्ति जैसी प्रत्यक्ष अनुभवसे होती है वैसी अन्य किसी भी प्रकारके अनुभवसे नहीं होती। प्रत्यक्ष प्रतीतिका सम्पादन करना ही तो मनुष्यका मुख्य, साध्य और साधन होता है। इसी लिये वेदान्तमें सुनने मनन करने और अन्तःकरणमें अनुभव करनेसे भी अधिक महत्त्व साक्षात्कार करनेको दिया गया है। एक ही वस्तुकी प्रतीति यदि एक इन्द्रियकी अपेक्षा अधिक इन्द्रियोंसे की जा सके, तो वह अधिक इष्ट होता है।

ज्ञान-प्रामाण्य निर्धारित करनेका साधन

यह एक विवादास्पद प्रश्न दार्शनिकोंके सामने रहता है कि कोई भी ज्ञान सच है या झूठ, प्रामाणिक है या अप्रामाणिक—यह निर्धारित करनेका साधन क्या माना जाय? भारतीय तत्त्वज्ञानमें इस प्रश्नके संबंधमें की जानेवाली चर्चाको प्रामाण्यवाद[२] कहा जाता है। परीक्षा (Experiment) अथवा व्यवहार (Practice) ही ज्ञानकी प्रामाणिकताकी कसौटी[३] है। अपने ज्ञान और विचारकी सचाईको सिद्ध करनेका एक-

(१) न्यायभाष्य १।१।१.

(२) तत्त्वचिंतामणि, प्रत्यक्ष खण्ड.

(३) Ludwig Feuerbach, By Engels P. P. 32–33

मात्र उपाय यह है कि निसर्गान्तर्गत किसी भी प्रक्रिया (a natural Process) को अपने वशमें कर लिया जाय। वस्तुओंका निर्माण किया जाय और उन्हें अपने उपयोगमें लाया जाय। गन्नेसे चीनीका निर्माण करके उसे हम लोग उपयोगमें लाने लग जायँ, तो यह कल्पना सही सिद्ध हो जाती है कि 'गन्नेमें चीनी मौजूद है।' मेरे ज्ञानकी प्रामाणिकता मेरे फलीभूत व्यवहारद्वारा सिद्ध होती है। मेरे हाथमें पड़ा हुआ फल अन्न है, औषध है, अथवा विष है,—इसकी ठीक जानकारी मुझे तब ही होगी, जब मैं उस फलका उपयोग करूँगा अर्थात् व्यवहार करके देखूँगा। मरुभूमिमें दीखनेवाले पानी और सीपीमें होनेवाली चाँदीकी भ्रान्तिकी अप्रमाणिकता प्रयत्नद्वारा ही जानी जाती है। मैं जिस धारणाके वशीभूत होकर काम करता हूँ, उसके कारण जब मेरे काममें रुकावटें पैदा होने लगती हैं और मेरे सारे किये करायेपर पानी फिर जाता है, तब मुझे मालूम पड़ता है कि मेरी वह धारणा गलत थी। कर्म ही ज्ञानकी प्रामाणिकताकी कसौटी हैं। बौद्ध, नैयायिक तथा वैशेषिक दार्शनिकोंने फलीभूत प्रयत्नहीको ज्ञानकी प्रामाणिकताका साधन बताया है।

जीव-पिंडकी दौड़-धूप निरंतर चालू रहती है। उस दौड़-धूपमें अर्थात् व्यवहारमें जीव-पिंडके ऊपर बाहरी और अंदरकी वस्तुओंका आघात और प्रत्याघात होता रहता है। चिरंतन आघातों और प्रत्याघातोंकी समाप्तिके रूपमें जीव-पिंडमें जो जीवनके अनुकूल गुण उत्पन्न होता है, उसे ज्ञान कहते हैं। जीवपिंडके प्रयत्नोंहीसे ज्ञानकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकताका निर्णय हुआ करता है। जिस ज्ञानकी सचाई निश्चित रूपमें अनुभव होती है, उस ज्ञानके अनुसार ही मनुष्यका व्यवहार और प्रवृत्ति होती है। तंग गलीमेंसे गुजरते समय ज्यों ही मुझे इस बातका ज्ञान होता है कि एक हाथी

गलीमें दौड़ता आ रहा है, त्यों ही मैं उस गलीमेंसे वापस लौट आता हूँ। हाथीके दौड़ते हुए आनेके रूपमें हुए ज्ञानकी सत्यता और असत्यता-की पक्की जानकारी हो गई है या नहीं,–इसका ज्ञान 'प्रवृत्ति' से होता है। जिसे उस ज्ञानकी सत्यतापर विश्वास नहीं होता वह गलीमेंसे वापिस नहीं लौटता। जो वापिस लौट आता है, उसे अपने ज्ञानकी प्रामाणिकताका निश्चय पक्का ही होता है। किसी भी व्यक्तिकी क्रियाको देखकर उसकी (अंतर्गत) धारणाका ठीक ठीक पता लगाया जा सकता है।

परीक्षण और व्यवहारकी सहायतासे ज्ञानकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता साबित होती है। इस कथनका आशय यह है कि परीक्षण और व्यवहारसे मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव अथवा इंद्रियोंसे उत्पन्न होने-वाले ज्ञानके क्षेत्रको विस्तृत करता है। बारबार अनेक प्रकारके अनुभ-वोंको ग्रहण करके सब अनुभवोंको योग्य रीतिसे संकलित करता है। जब अनुभवोंका विस्तार और संकलन योग्य रीतिसे हो जाता है, तब वह अपने विचारोंकी प्रामाणिकताको ठीकसे परखने लग जाता है। इसका एक उदाहरण लीजिये। किसी समय बुद्धिमानोंकी ऐसी धारणा थी कि प्लेगकी बीमारी देवीके कोपके कारण होती है। जब मनुष्योंका अनुभव-क्षेत्र बढ़ा, तब यह धारणा नष्ट हो गई। व्यवहारसे ऐसा पता चला कि प्लेगको उत्पन्न करनेवाली कुछ जहरीली चीजें अथवा जंतु हैं, किसी देवी देवताके प्रकोपसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। देवताकी आराधना चाहे की जाय चाहे न की जाय, प्लेगपर उसका कोई असर नहीं होता। इन जहरीली चीजोंको शरीरमें स्थान देनेसे प्लेग बढ़ने लगता है और उन्हें शरीरसे बाहर निकालनेसे वह कम हो जाता अथवा नष्ट हो जाता है। रोग-ज्ञानके इतिहासको देखनेसे पता चलता है कि जंगली जातियोंमें रोगोंके सम्बन्धमें दैवी

निमित्तको वैसा ही मान लिया गया था जैसा कि शास्त्रको माननेवाले उसके वाक्यको प्रमाण मान लेते हैं। जब अनुभवोंकी संपत्ति बढ़ी तब रोगोंकी भौतिक उपपत्ति बतलानेवाले आयुर्वेदका जन्म हुआ। उस-पुराने काल्पनिक दैवी-निमित्तके स्थानपर परीक्षणजन्य भौतिक आधार-पर ही आधुनिक वैद्यक खड़ा हुआ है। इसका कारण यह है कि अनुभव अधिक व्यापक और अधिक गहरा हो गया है।

ज्ञान और वस्तुकी अविभाज्यता (Unity)

ज्ञान और वस्तुमें अथवा विचार और विषयमें मेल रहता है, संगति किंवा अविभाज्यता रहती है। यह अविभाज्यता मानवी प्रयत्नोंहीसे सिद्ध होती है। ज्ञान अथवा विचारोंका वस्तुस्थितिके साथ मेल है या नहीं,—यह पता चलाना हो, तो उसका भी मुख्य उपाय कर्म अथवा व्यवहार ही है। निसर्गमें चारों ओरके जगत्‌में अथवा समाजमें मनुष्य जो प्रयत्न किया करता है या जो व्यवहार किया करता है, उसीमेंसे उसके ज्ञानकी, अनुभवकी अथवा विचारोंकी वृद्धि होती रहती है और उसी प्रयत्न अथवा व्यवहारमें ज्ञानकी वस्तुस्थितिके साथ यथार्थ संगति है या नहीं,—इसका निश्चय किया जा सकता है। विशेषतया उत्पादक प्रयत्नोंद्वारा ही ज्ञान और वस्तुस्थितिमें विद्यमान संगतिका अधिक उत्तम रीतिसे निर्धारण हो सकता है। जिन प्रयत्नोंसे वस्तुओंकी निर्मिति होती है, उन्हें उत्पादक प्रयत्न कहते हैं। मैं गुलाबके पौधेकी कलम जमीनमें लगाता हूँ; कुछ दिनों बाद उस कलमके अँखुआ या अंकुर फूटता है और पत्ते आ जाते हैं। मेरी इस धारणाका कि गुलाबकी कलमसे उसका छोटा-सा पौधा तयार हो जाता है, वस्तुस्थितिके साथ मेल है, यह प्रयत्न करनेसे सिद्ध हुआ।

किसी भी समाजके ज्ञानका माप उसकी कलाओंके पैमानेसे किया जाता है। निसर्ग अथवा सृष्टिके उत्पादन अथवा रूपांतरके कार्यमें सफल हुए मानवी प्रयत्नका नाम ही कला है। बैलगाड़ी बनानेमें जितना गणित-ज्ञान एवं वस्तु-ज्ञान काममें आता है, उसमें तथा रेलगाड़ी बनानेमें लगनेवाले गणित-ज्ञान तथा वस्तु-ज्ञानमें जो अंतर है, वह बैलगाड़ी और रेलगाड़ीको देखनेसे ही पता चल जाता है। बैलगाड़ी और रेलगाड़ी उस ज्ञानहीका एक बहिर्गत पार्श्व है। बिजलीघरके पास नदीपर बाँधा गया प्रचंड बाँध तैयार करनेमें लगनेवाला जल-ज्ञान खेतके किनारेसे बहनेवाले नालेके पानीसे खेतका बचाव करनेके लिये बाँधे गये बाँधके तैयार करनेवाले ग्रामीण किसानके जलज्ञानकी अपेक्षा कितना महान् है, यह तो वह प्रचंड बाँध और यह छोटा बाँध ही साबित करता है। मनुष्य जिन भौतिक साधनोंसे जो भौतिक पदार्थ तयार करता है, उन साधनोंकी एवं उत्पादित वस्तुओंकी आकृतिको एवं विशेषताको देखकर मनुष्यके ज्ञानका लेखा किया जा सकता है। ताँबा, लोहा, जस्ता, सोना इत्यादि खनिज वस्तु-ओंका उत्पादन जिस समाजमें बड़े पैमानेमें होने लगा, उसी समाजमें भूगर्भ-विज्ञानका निर्माण हुआ। खान और खनिज पदार्थोंका उपयोग अधिक परिणाममें करनेवाले समाजहीके अंदर भूगर्भ-विज्ञानका विस्तार हो सकता है। भूमिके स्तरोंमें काम करनेवाले मनुष्योंको ही भूमिके स्तरोंका योग्य ज्ञान होता रहता है। मानवी प्रयत्न ही वस्तु एवं ज्ञानमें संगति निर्माण करता है और संगति सिद्ध करता है।

भौतिक ज्ञानका वस्तुके साथ मेल जिस रीतिसे सिद्ध होता है उसीसे आत्मविद्याका वस्तुके साथ मेल सिद्ध होता है। मनुष्यकी

चैतन्य शक्तिका नाम आत्मा है। समाजकी रचनाके ऊपर उस चैतन्य शक्तिका विकास आश्रित रहता है। सामाजिक संस्थाएँ आत्म-शक्तिके विकासके साधन हैं। विशिष्ट समाज-रचनामें एवं विशिष्ट सामाजिक संस्थाओंमें परिवर्तन अथवा क्रान्ति करनेके प्रयत्नके मूलमें आत्म-विकासका ही उद्देश्य रहता है। समाज-रचनाके एवं सामाजिक संस्थाओंके विशिष्ट स्वरूपको देखकर वह रचना एवं वे संस्थाएँ समाज-घटकोंके आत्मविकासके लिये कहाँ तक समर्थ हैं, यह निश्चित किया जा सकता है। उदाहरणके लिये फ्रेंच राज्य-क्रांतिको देखिये। सामन्तवादी समाज-रचना और सामन्तवादी सामाजिक संस्थाओंको नष्ट करके उनकी अपेक्षा ऊँचे दर्जेकी समाज-रचना एवं श्रेष्ठ सामाजिक संस्थाएँ निर्माण करनेका वह प्रयत्न था। उस क्रांतिके आंदोलनके मूलमें जो आत्म-विद्या थी, वह परंपरागत ईसाई धर्ममें विद्यमान आत्म-विद्याकी अपेक्षा अधिक उन्नत थी। ईसाई धर्मकी आत्म-विद्याने पुरानी सामन्तवादी समाज-रचनाका पक्ष लेकर नये प्रयत्नोंका विरोध किया। फ्रेंच राज्य-क्रांतिने खेतिहरोंको सामन्तवादी और जमींदारीकी दासतासे मुक्त किया। खेतिहरों तथा अन्य सामान्य जनताकी आत्माका उस गुलामगीरीमें पतन ही हो गया था। जिन्होंने उन संस्थाओंका समर्थन किया, उनका आत्मज्ञान अर्थहीन था। जिन क्रांतिकारक पक्षोंने सामन्तवादी समाज-रचनाको उखाड़ फेंकनेका प्रयत्न किया, उनका ऐहिकदृष्टियुक्त, परलोक-रहित एवं जड़वादी आत्मज्ञान अधिक उच्च था। उस आत्मज्ञानने प्रजातन्त्रात्मक राज्य-संस्थाको जन्म दिया। उस संस्थाके मूलमें जनतामें निहित सार्वभौम सत्ताका सिद्धांत (The principle Sovereignty of the People) था। उस आंदोलनके मूलमें ‘ भगवानका अधिष्ठान ’ नहीं था, प्रत्युत प्रजामें निहित सार्वभौम सत्ताके सिद्धांतका अधिष्ठान था। ‘ भगवानका अधिष्ठान ’

रखनेवाले आंदोलनने सामन्तवादी व्यवस्थाके समर्थनमें अपनी सारी शक्ति लगा दी। जनताकी दासताका समर्थन करनेवाला भगवद्भक्तिका तत्त्वज्ञान आत्म-शक्तिका विकास करनेके बदले उसे कुचलनेका कार्य ही अधिक चतुराईसे करता है। किसी भी समाज-रचनाको देखकर एवं सामाजिक संस्थाओंके विशिष्ट स्वरूपको देखकर उन रचनाओं एवं संस्थाओंके पीछे काम करनेवाले आत्मज्ञानको परखा जा सकता है। प्रजातन्त्री राज्य-संस्थाको जन्म देनेवाली फ्रेंच राज्य-क्रांतिके कालसे अब तक समूचे मानव-समाजमें जनताके जो भी आंदोलन अस्तित्वमें आये हैं, उन्हें इसी एक उद्देश्यसे प्रेरणा प्राप्त होती रहती है कि जनताको अधिकसे अधिक स्वतन्त्रता मिले और प्रत्येकको आत्मविकासके लिये अधिकसे अधिक अवसर प्राप्त हो। इस उद्देश्यकी सफलताका निर्णय उन आंदोलनोंमेंसे पैदा होनेवाली सामाजिक संस्थाओंके विशिष्ट स्वरूपको देखकर ही किया जा सकता है। विचार अथवा ज्ञानकी वस्तुके साथ संगति रहती है। वस्तुके स्वरूपपरसे विचारके स्वरूपको निश्चित किया जा सकता है। जिन विचारोंके गर्भमेंसे विशिष्ट संस्थाओंका जन्म होता है, उन्हें देखकर उन विचारोंका अर्थ समझमें आ जाता है।

सामाजिक संस्थाओंके स्वरूपको देखकर जिस प्रकार उस समाजकी आत्मविद्याका लेखा किया जा सकता है, उसी प्रकार उस समाजकी अन्य विद्याओंका अथवा भौतिक विद्याओंका भी लेखा किया जा सकता है। कबीलों सरीखी खानाबदोश समाजोंको (Tribal) देखकर आसानीसे पता चल जाता है कि उन्हें जमीन और खेती आदिका ज्ञान नहीं है। जिन समाजोंको जमीन और खेतीकी विद्याका पता लग जाता है, वे समाज खानाब-दोश न रहकर एक स्थानपर स्थिर हो जाते हैं और उनके समाजका ढाँचा उसके अनुसार बदल जाता है। जिस समाजमें युद्धकी संस्था रहती है और क्षात्र वर्गको उच्च स्थान दिया जाता है, वह समाज दूसरे समाजकी

आर्थिक रूपपर जिन्दा रहना चाहता है अथवा कोई अन्य समाज उस-पर आक्रमण करके जिंदा रहना चाहता है, यह बात आसानीसे समझमें आ जाती है। इस परसे यह भी ज्ञान होता है कि अभी मानव-समाजमें समाजसत्तावादी तत्त्वज्ञानका समावेश नहीं हुआ है। सारा मानव-समाज आपसमें लूट न मचाते हुए और किसी भी वर्गको दासतामें न रखते हुए ठीक ढंगसे अपना योगक्षेम अथवा जीवन-निर्वाह चला सकता है और वर्गरहित समाज-संस्थाकी स्थापना करके विज्ञानकी एवं यंत्रोंकी सहा-यतासे सृष्टिगत अनंत शक्तियोंका उपयोग करके सारे समाज-घटकोंकी भौतिक एवं अध्यात्मिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके योग्य अर्थोत्पादन कर सकता है, यह आश्वासन समाज-रचनाका मार्क्सवादी आदर्श ही दे सकता है।

समाज-रचनाके एवं सामाजिक संस्थाओंके स्वरूपको देखकर और विशेषतः समाजके अन्तर्गत उत्पादक साधनोंके गुणों और अवगुणोंको देखकर उन उन समाजोंमें विद्यमान ज्ञानकी एवं विद्याकी परख की जा सकती है। ज्ञानका एवं विद्याका सार ही तो मानवी उद्योग एवं उत्पादक सामग्रीमें उतरा रहता है। समाजके औज़ार, हथियार अथवा भौतिक साधनोंकी कार्यक्षमताको देखकर ज्ञानके सामर्थ्यको एवं विद्याके तेजको पहचाना जा सकता है। समाजकी रचना उत्पादक साधन-सामग्रीपर एवं उत्पादन-पद्धतिपर निर्भर रहती है। साधनोंके पीठ पीछे ऐतिहासिक परंपरासे प्राप्त हुआ विज्ञानका खजाना रहता है। आजकलके यांत्रिक उद्योग-धंधोंका महान् विस्तार उसके पीठ पीछे विद्यमान विद्याओंके विस्तारका सूचक है।

व्यक्त वस्तु, प्रत्यक्ष अनुभव, व्यवहार और तात्त्विक विचारसरणीकी परस्पर संगति

मूर्त किंवा व्यक्त वस्तु (Concrete Reality) ही प्रत्यक्ष अनुभव-

का और मानवी व्यवहारका क्षेत्र है। इन्द्रियजन्य ज्ञान अथवा अनुभव व्यक्त किंवा मूर्त वस्तुके बिना नहीं हो सकता। मनुष्यके सारे व्यापार व्यक्त किंवा मूर्त वस्तुको लक्ष्य करके ही हुआ करते हैं। व्यवहारजन्य अनुभवको ही समस्त तात्त्विक विचारसरणीका मूल आधार मानना चाहिये। व्यवहारका अर्थ है मानवी प्रयत्न किंवा व्यापार। व्यक्त वस्तु, प्रत्यक्ष अनुभव और व्यवहार (Practies) इन तीनोंसे मेल खानेवाली तात्त्विक विचारसरणी ही मनुष्यके जीवनका सामर्थ्यशाली साधन है। व्यक्त वस्तुको गौण समझनेवाली एवं मानवी प्रयत्नोंको ज्ञान-मीमांसाके समय उपेक्षित करनेवाली तात्त्विक विचारसरणी मनुष्योंकी प्रगतिके लिये बड़ा भारी खतरा पैदा कर देती है। व्यक्त वस्तु, व्यवहार और प्रत्यक्ष अनुभवकी सम्बन्धशृंखला जिस तत्त्वज्ञानमें अविच्छिन्न रहती है, वही तत्त्वज्ञान प्रगतिका साधन बनता है।

विचार और वस्तुका संबंध दृढ़ करनेका कार्य मानवी प्रयत्न एवं तज्जन्य अनुभवसे ही किया जाता है। अतः किसी भी तत्त्वज्ञानकी यथार्थता प्रत्यक्ष आचरणसे ही सिद्ध होती है। कोई भी विचारसरणी केवल तर्कशास्त्रकी दृष्टिमें सुसंगत है या मनको समाधान प्रदान करती है, इतने परहीसे उसकी प्रामाणिकताका निश्चय नहीं हो सकता, प्रत्युत उस विचारसरणीको व्यवहारमें भी ठीक उतरना चाहिये। व्यवहारमें भी उसे पूर्ण तथा सफल सिद्ध होना चाहिये। उसमें यदि सफलता न मिली, तो निश्चय ही यह समझना चाहिये कि वह किन्हीं मिथ्या धारणाओंसे दूषित है। व्यवहार ही उसका मूलाधार और कसौटी है।

इस तत्त्वज्ञानपर कि किसी भी विचारसरणीका जन्मस्थान और कसौटी प्रत्यक्ष परीक्षण एवं अनुभव ही है, जो महत्त्वपूर्ण आक्षेप किया

---

(१) There is no more fatal enemy than theories which are not also facts.—Bradlay

जाता है, वह इस प्रकार है। अनेक ऐसे विज्ञान हैं, जिनके साथ मानवी व्यापार एवं प्रत्यक्ष अनुभवका कुछ भी सम्बन्ध जान नहीं पड़ता। आकाशवर्ती तारोंके स्वरूप एवं अंतरके सम्बन्धमें विचार करनेवाली ज्योतिष-विद्याकी परख प्रत्यक्ष परीक्षणसे कैसे की जा सकती है? चन्द्र किंवा मंगलकी परिस्थितिके साथ मानवी प्रयत्नोंका क्या सम्बन्ध है? उच्च गणितकी अनेक गहन कल्पनाओंका प्रत्यक्ष व्यवहारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। भूगर्भ-शास्त्रमें वर्णित एवं भूगर्भमें लाखों वर्ष पूर्व बार बार हुए परिवर्तन प्रत्यक्ष परीक्षणका विषय नहीं हो सकते। तब तो यही कहना होगा कि इन विज्ञानोंके अनेक तत्त्व व्यर्थ हैं। इस आक्षेपका उत्तर यह है कि जिन तात्त्विक विचारोंका सम्बन्ध प्रत्यक्ष परीक्षण एवं अनुभवसे नहीं रहता, उन्हें ज्ञानके क्षेत्रमें प्रत्यक्ष परीक्षण एवं अनुभवसे सम्बन्धित विचारोंकी तुलनामें गौण अथवा दूसरे दर्जेका समझा जाता है। दूसरी बात यह है कि अनुभवके साथ जिन विचारोंका साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहता वे परम्परासे परीक्षण किंवा अनुभवसे पैदा हुई विचारधाराके आधारपर खड़े होते हैं। उनका प्रत्यक्षके साथ अप्रत्यक्ष रूपसे सम्बन्ध रहता है। प्रत्यक्ष अनुभवसे जिसका किसी प्रकारका कोई सम्बन्ध न आये, ऐसी तात्त्विक विचारसरणी हो ही नहीं सकती। वह चाहे कितनी ही सूक्ष्म क्यों न हो अथवा प्रत्यक्ष परीक्षणसे कितनी ही दूर क्यों न हो। प्रत्यक्ष परीक्षण एवं अनुभव सब प्रकारके तत्त्वज्ञानोंमें श्रेष्ठ है। कारण इसका यह है कि वह सामान्य सिद्धान्त और वस्तुस्थितिके बीचमें कड़ी रूप रहता है।

---

(१) Practice is higher than theoritical knowledge, because it has not only the virtue of generality but also immediate actuality. Lenin.

अनुभवसे पैदा हुआ ज्ञान (Experience) सामाजिक व्यवहार (Social Practice) का फलित किंवा सार है। निरन्तर होनेवाले दीर्घकालीन अनुभवके आधारपर ही अनेक सृष्टिगत सत्योंका आविष्कार होता रहता है। हवाकी लहरों और समुद्रके जल-प्रवाह (Periodic winds and Sea Currents) की नियत गतिका ज्ञान सैकड़ों अथवा हजारों वर्षोंकी नावकी यात्राके व्यवहारसे प्राप्त हुआ है। मनुष्य जातिके अस्तित्वसे कितने ही वर्ष पहले वस्तुओंका अस्तित्व रहता है, उन्हींका ज्ञान हजारों बरसोंके अव्याहत प्रयत्नोंसे प्राप्त हुआ करता है। फिनीशियन, ग्रीक और अलेग्जैंड्रियन लोगोंने अनेक अनेक शताब्दियाँ नावकी यात्रामें व्यतीत कीं; परन्तु उन्हें हवाकी गति और समुद्रके प्रवाहका ठीक ठीक ज्ञान नहीं हुआ। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दिमें पूँजीपति व्यापारियोंने अपने अनुभवसे उस ज्ञानको ऊँचे दर्जेपर पहुँचा दिया। उनकी नावकी यात्रा सुधरी हुई और व्यापक भी थी। उत्तरोत्तर प्राप्त होनेवाले अनुभवोंकी सहायतासे यह ज्ञान बढ़ता चला गया। प्रत्येक युगकी ज्ञान-निधि अपनेसे पहलेके ऐतिहासिक प्रयत्नोंका ही तो सार होती है।

ज्ञानशास्त्र (Theory of knowledge) के क्षेत्रमें प्रयत्नजन्य अनुभवोंका अथवा परीक्षणोंका जड़वादकी दृष्टिसे प्रमुख स्थान है। उसके कारण कैंटके अज्ञेय परमार्थ वस्तुके लिये किंवा वस्तुस्वरूप (Thing in itself) के लिये किसी भी प्रकारका स्थान नहीं रह जाता। कैंटद्वारा माना गया वस्तुस्वरूप गूढ़, इन्द्रियोंकी पहुँचसे परे और मनके लिये भी अगोचर है। मनुष्य अपने बुद्धिजन्य व्यवहारसे जिस समय वस्तुओंका निर्माण किया करता है, उस समय वह यही सिद्ध करता है कि वस्तुस्वरूप (Thing in itself) गूढ़ किंवा सदाके लिये ही अज्ञेय नहीं

सत्यकी खोज बाहरकी दुनियामें न करके केवल बौद्धिक कल्पना-समूहहीमें उसे खोजते हैं।

ज्ञानका क्रम

मनुष्योंका ज्ञान दो स्वरूपोंमें परिणत होता है; एक प्रत्यक्ष अनुभव और दूसरी तार्किक बुद्धि। प्रत्यक्ष अनुभव यह पहली अवस्था है और तार्किक बुद्धि अथवा विचार-शक्ति इस पहली अवस्थाके आधारपर ही निर्मित हुई दूसरी उच्च अवस्था है। प्रत्यक्ष अनुभवमें बाह्य विषयोंकी और सुखदुःखादि मनोवृत्तियोंकी संवेदना अंतर्भूत रहती है। प्रत्यक्ष अनुभवको साक्षात्कार कहते हैं।

प्रत्यक्ष अनुभवको भी परिणतिके अनेक क्रमोंमेंसे गुजरना पड़ता है। एक ही वस्तुके संबंधमें आनेवाले सामान्य मनुष्यके और पढ़े-लिखे सभ्य मनुष्यके अनुभवोंमें अंतर रहता है। उत्तम गवैयेके गानेको सुननेके बाद विंध्य पर्वतमें रहनेवाले या मध्य आस्ट्रेलियामें रहनेवाले जंगली मनुष्यको जो अनुभव आयेगा, उसमें और दिल्लीके अथवा पूनाके शिक्षित नागरिकके अनुभवमें बहुत अंतर रहता है। जंगली आदमीको वह गाना सिर्फ एक किस्मका शोर ही मालूम पड़ता है; उसके कर्णेंद्रियको भिन्न भिन्न स्वरों और आलापोंकी व्यवस्था ही अवगत नहीं होती। सब्जी मंडीसे सब्जियाँ खरीदकर लानेवाले नौकरकी आँखोंको मोती, माणिक अथवा अन्य रत्नोंकी भिन्न भिन्न छटाओंका आकलन नहीं होता। मानव-जाति-शास्त्र (Anthropology) का कहना है कि अनेक जंगली जातियोंको गन्ध और रंगका सूक्ष्म अंतर कतई मालूम नहीं होता। इंद्रियजन्य प्रत्यक्ष अनुभवकी प्रत्येक सामाजिक अवस्थामें भिन्न भिन्न परिणति हुआ करती हैं। अनुभवकी पटुता या कुशलताके लिये तार्किक बुद्धि एवं पूर्व अनुभव कारण होते हैं।

जैसे जैसे सामाजिक स्थिति उन्नति करती जाती है, वैसे वैसे ही मनुष्यका मन भी ऊँची अवस्थामें पहुँचता जाता है। उसकी प्रत्यक्ष अनुभव अथवा ग्रहण करनेकी शक्ति भी बढ़ती जाती है। सामाजिक युगोंकी अवस्थाके अनुसार ही मनुष्यकी ग्रहण शक्ति और मानसिक शक्ति रहती है। प्रत्येक नवीन अनुभवको पूर्व संस्कारोंकी सहायता जितनी अधिक रहेगी, उतना ही वह प्रगल्भ होता जायगा। जैसे जैसे सामाजिक विकास बढ़ता जाता है, वैसे वैसे अनुभव स्पष्ट हो करके उसके अनुसार विवेचन करनेकी शक्ति भी बढ़ती जाती है। ऐसे समाजमें मनुष्यका मन स्वतः ही शिक्षित और विकसित होता रहता है।

हीन या उच्च सामाजिक स्थितिमें जैसे विषयकी जानकारी या अनुभूति बदलती रहती और बढ़ती रहती है, वैसे ही सुख, दुःख, प्रेम, द्वेष, विषाद इत्यादि मनोवृत्तियोंका स्वरूप और अनुभव भी बदलता रहता है। सुधरे हुए प्रगतिशील समाजकी अंतःसंवेदनाओंकी विशेषता तथा विस्तृत स्वरूप पिछड़े हुए समाजके शिक्षित मनके लिये भी समझमें आना संभव नहीं होता। बाहरी अनुभव तथा मानसिक अनुभवोंका स्वरूप भिन्न भिन्न संस्कृतिमें, भिन्न भिन्न सामाजिक वर्गोंमें और भिन्न भिन्न सामाजिक श्रेणियोंमें भिन्न भिन्न रहता है।

सीधे सादे अनुभवका अर्थ हुआ वस्तुका आकलन (Perception)। पहलेके अनुभवोंके संस्कारोंका बल प्राप्त हुए अनुभवको समीक्षण, परीक्षण, प्रत्यय, प्रतीति या प्रत्यभिज्ञान (Apperception) कहते हैं। वस्तुका परिचय या समीक्षण (Sensed knowledge) ही तार्किक ज्ञानकी अथवा बुद्धि (Logical knowledge) की नींव है। यह नींव जैसे जैसे बदलती जाती है, वैसे वैसे बुद्धि, तर्क या विचारोंका स्वरूप भी बदलता जाता है। सृष्टिकी किसी भी घटनाको

देखनेके बाद हमारा मन कहता है कि उसका कोई न कोई कारण होना चाहिये। बगीचा देखा और उसके वृक्षों तथा लताओंको फूलों और फलोंसे लदा हुआ देखा कि उसका कारण भी मनमें आ जाता है। उपजाऊ जमीन, उत्तम खाद, अच्छा हवा-पानी, प्रकाश, उष्णता आदिका कार्यकारण-भाव मनमें आ जाता है। जमीन, पानी, उष्णता और बीज ये कारण हैं और बाग कार्य है, ऐसा बुद्धि निर्णय करती है। बुद्धि (Reason) प्रत्येक घटनाको कार्यकारणभाव (Causality) के साँचेमें बिठाती है। ज्यामिति किंवा गणितकी कल्पनाओंके परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त अबाधित हैं। नियम, नियति किंवा अपरिहार्यता (Necessity) उन सम्बन्धोंका स्वभाव है। कार्य-कारण भावकी सर्व-व्यापकता (Universality) और नियति बुद्धिके विषय हैं। तर्कके अनुसार भाव और अभावका विरोध बुद्धिद्वारा ही अबाधित ठहराया गया है। 'घट अघट नहीं,' 'पट अपट नहीं,' 'मनुष्य अमनुष्य नहीं'—ये सब इस नियमके उदाहरण हैं। पाश्चात्य तर्कशास्त्रमें इसे तादात्म्य (Law of Identity) का नियम कहते हैं। कार्यकारण-भाव (Causality), नियति (Necessity) और तादात्म्य (Law of Identity) का नियम बुद्धि किंवा विचारके मूलभूत नियम हैं। इन नियमोंका कहीं भी अपवाद नहीं, ऐसा बुद्धिद्वारा किया गया निश्चय है। जब वस्तुमात्रका किंवा प्रत्येक वस्तुका बुद्धि आकलन करती है, तब मूलभूत आकारमें (Category) या साँचेमें ही उस वस्तुको डाल कर देखती है। उसके बिना बुद्धि देख नहीं सकती।

डेकार्ट, (Descartes) लीब्नीट्ज़, (Leibnitg) कैंट, हेगेल इत्यादि पाश्चात्य तर्कशास्त्रज्ञोंके मतके अनुसार बुद्धिके ये नियम ही सत्यका मूलभूत स्वरूप है। उनके मतमें बुद्धिका शुद्ध स्वरूप उन

नियमोंहीमें प्रकट हुआ है। इंद्रियगोचर जगत् एवं उसका अनुभव कैंट प्रभृति तत्त्ववेत्ताओंके मतमें गौण है। उनके मतमें ये बौद्धिक सामान्य तत्त्व ही परमार्थ हैं। इन तत्त्वोंके आधारपर ही इंद्रियगोचर, चंचल, विचित्र, अनंत प्रकारकी वस्तुओंके अनुभवोंका अर्थ बुद्धि लगाया करती है।

कैंटका मत इस सम्बन्धमें ध्यान देने योग्य है। वह कहता है कि ये बौद्धिक तत्त्व मनुष्यके मनकी ही स्वभावसिद्ध व्यवस्था है। मनुष्यके मनकी ही यह रचना है। वस्तुके संबंधमें विचार करनेकी मनद्वारा सदा उपयोगमें लाई जानेवाली यह प्रणाली है। मनुष्यका मन इन नियमोंका कभी उल्लंघन नहीं कर सकता। इसी लिये विज्ञानका विस्तार हुआ है। इन नियमोंके अनुसार काम करनेवाले मनके भीतर ही विज्ञानका जन्म हुआ है। यह कौन बतायेगा कि ये नियम बाह्य जगत्में है या नहीं? मन कहता है कि ये नियम सर्वव्यापी हैं। परन्तु जगत्का किसी भी मनको कभी भी मिलना संभव नहीं। वे नियम मनके नियम हैं,—इतना ही सिद्ध होता है।

जड़वादको कैंट प्रभृतिका यह मत स्वीकृत नहीं है। मनको जो भी विचारोंकी अथवा बुद्धिकी सामग्री प्राप्त होती है, वह प्रत्यक्ष अनुभवसे किंवा इन्द्रियजन्य ज्ञानसे ही प्राप्त होती है। बाहरी संसारमें होनेवाली अनंत घटनाओंका अनंत बार आया हुआ अनुभव ही कार्य-कारण भावकी, नियतिकी और तादात्म्यकी सीख मनको देता है। बारबार एक ही प्रकारके प्राप्त होनेवाले अनुभवसे कार्य-कारण भावकी सामान्य कल्पना होती है। पहली बार 'अ' और 'आ' का क्रम समझमें आता है। 'सूर्योदयके बाद ही कमलका फूल खिलता है,'—इस अनुभवमें सूर्य और कमलके फूलके खिलनेका क्रम मालूम होता है। यह अनुभव

जब बारबार होता है, तब यह मालूम पड़ जाता है कि यह क्रम अबाधित है और अंतमें कार्य-कारण भावके नियमोंकी कल्पना तैयार होती है। विशेष घटना (Actuality) के बार बार प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेसे उन अनुभवोंके असंख्य संस्कारोंमेंसे सामान्य कल्पना (Cenera-lity) का उदय होता है। प्रत्यक्ष अनुभव (Sense experience) ही बार बार उत्पन्न हुआ कि उसमेंसे सामान्य कल्पना (Logical Thought) पैदा हो जाती है। कैंटके कथनके अनुसार मनकी तर्कात्मक रचना मूलभूत स्वयंसिद्ध किंवा पूर्वसिद्ध (A priori) नहीं है। वह तो अनेक युगोंसे विश्वमें जीवनके लिये प्रयत्न करने और खटपट करनेवाले मानवी जीव-पिंडको अनंत प्रत्यक्ष अनुभवोंकी परम्परासे प्राप्त होनेवाली देन है। तार्किक बुद्धि (Reason) अनुभवसे परिणत हुई (A Posteriori) वस्तु है। आजकलके सुसंस्कृत समाजके मनुष्योंके अनुभवों एवं विचारोंके मूलमें वही तार्किक बुद्धि रहती है। उस तार्किक बुद्धिके व्यापक नियमोंकी सहायतासे ही सभ्य और सुसंस्कृत समाजके मनुष्योंका मन प्रत्यक्ष अनुभव लेता और विचार करता है। ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है कि सुसंस्कृत समाजके मनमें तार्किक बुद्धिके ये नियम स्वतःसिद्ध (A Priori) होते हैं। कैंटकी शुद्ध बुद्धि (Pure Reason) एक ऐतिहासिक परिणतिके अंतर्गत मनका भाग है। निसर्गहीमें ठोकरें खाते खाते मनुष्यके मनने निसर्गके जो नियम प्राप्त किये, चुने और स्वीकार किये, वे नियम ही शुद्ध बुद्धि हैं। निसर्गमें प्रयत्न करनेवाले मनुष्यको निसर्गद्वारा पढ़ाया गया अपना सामान्य अर्थ ही शुद्ध बुद्धि किंवा तार्किक बुद्धिके नियम हैं। अनन्त बार गहराईके साथ प्रतिबिंबित हुए विविध एवं विचित्र विश्वके वास्तविक रहस्य ही वे नियम हैं। अनन्त एवं विविध अनुभवोंका वह सामान्यरूप निष्कर्ष है।

ज्ञानकी दो मुख्य अवस्थाएँ प्रत्यक्ष अनुभव एवं तार्किक बुद्धि हैं। यद्यपि तार्किक बुद्धि अनुभवहीका कार्य है, तथापि वह प्रत्यक्ष अनुभवको अधिक कुशल, सूक्ष्म एवं व्यवस्थित रूप देती रहती है। तार्किक बुद्धि जितनी प्रखर होती जाती है, प्रत्यक्ष अनुभव भी उतना ही स्पष्ट, व्यापक, सूक्ष्म एवं व्यवस्थित होता जाता है और वह वस्तुका अथवा सत्यका ग्रहण अधिक कर सकता है। इसके विपरीत अनुभव भी तार्किक बुद्धिकी वृद्धि एवं कुशलताके लिए कारणीभूत होता है। अनुभवकी सम्पत्तिका अभिप्राय है विज्ञान। विज्ञानकी सूक्ष्मता एवं विस्तारके साथ तर्कशास्त्र भी सूक्ष्म एवं विस्तृत होता जाता है। जब विज्ञानमें क्रान्ति होती है, तब तर्कशास्त्रमें भी क्रान्ति होती है।

अब तक हमने जड़वादके विषयभूत ज्ञानके सिद्धांत (Theory of Knowledge) का संक्षेपमें वर्णन किया है। जब तक इस सिद्धान्तको ठीकसे समझ न लिया जाय, तब तक जड़वादकी उपपत्तिका समझना संभव नहीं है। प्रत्येक तात्त्विक विचारधारा ज्ञानशास्त्रके एक विशेष सिद्धान्तपर निर्भर है। जड़वादके ज्ञानसंबंधी सभी सिद्धान्तोंको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ स्थान नहीं है। अतः कुछ मूलभूत सिद्धान्तोंको चुनकर हमने यहाँ उनको स्पष्ट किया है। अब प्रत्यक्ष जड़वादके सामान्य सिद्धान्तोंपर विचार करेंगे।

'जड' शब्दका अर्थ

जडका अर्थ है वह पदार्थ, जो ज्ञानरूप न हो अथवा जिसमें संवेदना न हो। जडका प्रतियोगी शब्द है चेतन। चेतनका अर्थ है जाननेवाला, जिसे ज्ञान अथवा अनुभूति है और जो ज्ञानरूप है। अचेतनका अभिप्राय है जड़ पदार्थ। उस पदार्थको जड़ वस्तु कहते हैं,

जो (१) किसी भी ज्ञाताकी अनुभूतिमें न रहते हुए भी स्वतंत्र रूपमें रहती है, (२) जिसे स्वयं किसी प्रकारकी अनुभूति नहीं रहती और (३) जो स्वयं ज्ञानरूप अथवा चैतन्यरूप नहीं होती। उदाहरणार्थ, खानमें नैसर्गिक स्थितिमें पड़ा हुआ हीरा। वह अचेतन अथवा जड़ है। (१) किसीको भी मालूम नहीं ऐसी स्थितिमें वह लाखों बरस पड़ा रहता है, (२) उसे अनुभूति नहीं रहती और (३) वह स्वयं ज्ञानरूप नहीं है।

जडवादका मुख्य सिद्धांत—पदार्थकी जड़, जीव एवं चेतन तीन स्थितियाँ

चेतनवस्तु एवं जीववस्तुके अस्तित्वमें आनेसे पूर्व ही अचेतन एवं अजीव पदार्थ अपने स्वाभाविक रूपसे अस्तित्वमें था। चेतन वस्तु किंवा जीववस्तु निसर्गका ही एक भाग है। वह निसर्गमें एक विशेष परि-स्थितिमें उत्पन्न हुआ है। जीव एवं चेतन यह निसर्गकी एक विशेष घटना है और वह अजीव एवं अचेतन सृष्टिमेंसे ही उत्पन्न हुई है। जडवादका यह मुख्य सिद्धान्त है कि पहले अजीव एवं अचेतन रहा हुआ पदार्थ ही जीव एवं चेतन बनता है। एक स्थितिमें जो जड़ पदार्थ अचेतन एवं अजीव रहता है वही दूसरी स्थितिमें चेतन एवं जीव बन जाता है। जीव और चेतन यह जड़ पदार्थका ही दूसरा रूप है। मूलतः जो पदार्थ जड़ होता है, वही जीव या चेतन बनता है। वनस्पति और सूक्ष्म प्राणी जीव-सृष्टि हैं। कीड़े-मकौड़े, सरीसृप, पशु-पक्षी, मनुष्य इत्यादि चेतन-सृष्टि हैं। चेतनका अभिप्राय है अनुभूति अथवा ज्ञानवाले पदार्थ। ज्ञानवाली चेतन-सृष्टिमें मनुष्य सबसे बढ़-चढ़कर है। ज्ञानयुक्त अथवा बुद्धियुक्त, वस्तुओंका विचार करनेवाली वस्तु (चेतन) शाश्वत नहीं है, न वह सर्वव्यापी है और न सब वस्तुओंके मूलमें है।

वह एक अस्थायी, कार्यरूप, कारणद्वारा बनी हुई, देश-कालसे घिरी हुई, सीमित अथवा एकदेशी वस्तु है।

अचेतन या अजीव द्रव्य पहले रहता है। गरमी, बिजली, वायुरूप, द्रवरूप और घनरूप यह वस्तुकी जीव एवं चेतन स्वरूप अस्तित्वमें आनेसे पहलेकी अवस्था है। उसीमेंसे जीवरूप द्रव्योंका निर्माण हुआ। जीवका अर्थ है स्वयं गतिशील, अन्नको पचाकर जीवित रहनेवाली' उत्सर्ग करनेवाली और अपने जैसी अन्य वस्तुओंको जन्म देनेवाली वस्तु। वनस्पतिका स्वरूप इसी प्रकारका है। जीव-सृष्टिकी अगली सीढ़ी चेतन-सृष्टि है। चेतनका अर्थ है वह वस्तु, जिसके पास बुद्धि किंवा अनुभूति हो। पशु-पक्षी मनुष्य इत्यादि प्राणी चेतन हैं। अजीव, जीव और चेतन ये द्रव्यकी एकसे एक उच्च और उच्चतर श्रेणियाँ हैं। अजीव एवं अचेतन द्रव्य (Matter) ही परिपक्व अथवा विकसित होकर उच्च दर्जेकी रचनासे युक्त बनकर जीव या चेतनका स्वरूप धारण करता है। द्रव्यहीमें जीव-धर्म प्रकट होते हैं और मानसिक गुण विकसित होते हैं। जो भौतिक रहता है, वही आत्मरूप बनता है। आध्यात्मिक स्थिति भौतिकका ही दूसरा रूप है। जड़ पदार्थ ही अन्तमें जीव बन जाता है*।

किसी भी जीव-पिंड किंवा चेतन-पिंडकी जाँच करनेसे पता चलता है कि वह विविध प्रकारकी सूक्ष्म रचनासे युक्त जड़-द्रव्योंका मेल या समाहार है। उसमें मूल तत्त्व (Elements) एवं संयुक्त द्रव्य (Chemical Compounds) विशेष रूपसे दीख पड़ते हैं। मूल तत्त्व तथा संयुक्त द्रव्योंसे बनी हुई जीवपेशियाँ (Cells) विशेष रचनामें एक दूसरेसे उलझी हुई दिखाई देती हैं। इन जीवपेशियोंके रचनायुक्त

* The stream of Life p. 36 by Julian Huxley.

समुदायसे बनी हुई नानाविध कार्य करनेवाली संस्थाएँ दीख पड़ती हैं। इन सब संस्थाओंके बीचमें ज्ञान-तन्तुओंकी संस्था दिखाई देती है। यह संस्था ही चेतन किंवा मनका रूप धारण करती है। जिसे शरीर कहते हैं, वही आत्मा या मन (Soul or Mind) है। शरीर और जीवात्मा वस्तुतः एकरूप हैं। जीवशक्ति अथवा आत्मशक्ति शरीरसे अलग नहीं है। जीव और चेतन शरीररूपी द्रव्यका एक रूप (Aspect) है। एक दृष्टिसे जो शरीर है, वही दूसरी दृष्टिसे आत्मा या मन * है।

वस्तुका प्रत्यक्ष अनुभव लेना, विचार करना, कल्पना करना, संकल्प-विकल्प, इच्छा, द्वेष, काम, क्रोध, प्रीति, स्मरण, अहंकार इत्यादि समस्त धर्म, जिनका सम्बन्ध मन या आत्माके साथ बताया जाता है, वस्तुतः शरीरके ही धर्म हैं। क्योंकि शरीर ही आत्मा किंवा मन है। शरीरसे भिन्न कोई आत्मा या मन नहीं है।

जब शरीर ही आत्मा है, तब शरीरके नाशके बाद और शरीरके पैदा होनेसे पहले आत्मा नहीं रहता। शरीरके नष्ट होनेके साथ ही चैतन्य और प्राणका नाश हो जाता है। शरीरके नष्ट होनेके बाद आत्मा और प्राण शेष नहीं रहते। इससे पूर्वजन्म और पुनर्जन्म धारण करनेवाले अथवा अनेक योनियोंमें प्रवास करनेवाले जीवात्माकी कल्पनाका आधार ही नहीं रहता। मृत्युके बाद कर्मके अनुसार जीवात्मा विविध योनियोंमें जन्म लेता है अथवा धर्म-कर्मके कारण स्वर्गमें जाता है और पापाचारके कारण नरकमें जाता है, इत्यादि सब कल्पनाएँ मिथ्या

---

* Perhaps we treat body and mind as opposites in kind, when in fact each is one face of a single two faced reality. The Science of Life P. 761 by H. G. Wells, Huxley.

है। कारण यह है कि इस प्रकारके स्वतंत्र जीवात्माका कोई अस्तित्व ही नहीं है। भिन्न भिन्न धर्म-ग्रन्थोंमें भिन्न भिन्न प्रकारके बताये गये अनेक स्वर्गों और नरकोंमें निवास करनेवाला, चौरासी लाख योनियोंमें भटकनेवाला, अज्ञानके कारण जन्म-मरणकी शृङ्खलामें बँधा रहनेवाला, ज्ञानके द्वारा मुक्त होनेवाला और प्रत्येक पिछले जन्ममें भोगे गये विविध चमत्कारोंवाले अनेक स्वर्गों या नरकोंको और अनंत योनियोंको भुला देनेवाला संसारी जीवात्मा शरीरसे पृथक् है,—इस बातके समर्थनके लिये पुराणकी और धर्मशास्त्रोंकी कल्पित तथा निराधार कथाओंके अलावा और अपनी तथा परायोंकी वंचना करनेवाले लोगोंके भ्रमपूर्ण वाक्योंके अलावा दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। अनेक तत्त्ववेत्ता तर्कशास्त्रके आधारपर स्वतंत्र जीवात्माकी सिद्धि करनेवाली अनेक युक्तियाँ देते हैं, परंतु वे सब हेत्वाभाससे दूषित हैं। परम्परासे चले आनेवाले भ्रमोंको पुष्ट करना ही उन युक्तियोंका एकमात्र प्रयोजन है।

देह ही आत्मा है

वनस्पति, प्राणी तथा मनुष्य आदिके देहमें स्वतंत्र जीव-शक्ति अथवा (Vitalforce), चेतन-शक्ति (Conscious entity) नहीं है। देहकी रचना जीवरूप किंवा चेतनरूप है। अध्यात्मवादी ऐसा कहते हैं कि रथके लिये जिस प्रकार सारथीकी आवश्यकता है उसी प्रकार देहके लिये भीतर-बाहर प्रेरणा देनेवाला और उसपर काबू रखनेवाला भीतरी पुरूष अथवा आत्मा है। अनेक बनावटी मुख धारण करनेवाला जैसे बहुरूपी नट हुआ करता है, वैसी ही यह स्वतंत्र जीव-शक्ति है, जो नाना शरीर धारण करती रहती है। घरमें जैसे दीपक रहता है और उसके प्रकाशमें जैसे घरके सारे व्यवहार चलते हैं, वैसे ही चेतन-ज्योति देहरूप घरमें बैठती है और उसके प्रकाशमें देहीका सारा व्यवहार

हुआ करता है। लाल तपे हुए तवेमें जिस प्रकार अग्नि रहती है, तारके यंत्र किंवा टेलीफोनके ताँबेके तारमें जैसे बिजलीका संचार होता है, वैसे ही कम या अधिक पैमानेमें व्यक्त होनेवाली चैतन्य-शक्ति अथवा जीवात्मा वनस्पति, प्राणी व मनुष्य आदिके देहमें संचार किया करता है। रेलगाड़ीको गति देनेवाली भाफ जैसे एक पोलादी पेटीमें बंद रहती है, उसी प्रकार जीव-पिंडमें जीव-शक्ति बंद रहती है। उसका स्वरूप जड-द्रव्यसे सर्वथा भिन्न है।

जीव-पिंडका मुख्य लक्षण यह है कि उस पिंडमें जो बिगाड़ (disturbances) होते हैं, उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करके मूलकी स्वाभाविक किंवा समस्थितिमें देह-पिंडको लानेका प्रयत्न उसमें रहता है। अन्य किसी भी जड़ द्रव्यमें ऐसी व्यवस्था नहीं है। शरीरमें कोई घाव हुआ कि तुरन्त उसको भरनेका काम शुरू हो जाता है। रोगके कीटाणुओं, विष अथवा हानिकारक अन्य बातोंका प्रतिकार करके शरीरका बचाव करनेकी व्यवस्था जीव-पिंडमें रहती है। प्रत्येक जीव-पिंडमें अपना व्यक्तित्व (Individuality) रहता है। यंत्रके अलग अलग हिस्सोंको निकालकर रखा जा सकता है और उसके बिगड़े हुए हिस्सेको हटाकर उसकी जगह नया हिस्सा बिठाया जा सकता है, किन्तु शरीरकी वैसी बात नहीं है। शरीरके अंग-प्रत्यंग ऊपरसे देखनेमें भले ही भिन्न भिन्न दीखते हैं, फिर भी उनमें एक सर्वव्यापी अखण्डता है। एक हृदय निकालकर दूसरा नहीं बिठाया जा सकता, क्योंकि शरीर केवल जड-यंत्र नहीं है; अपितु उस शरीरमें भिन्न भिन्न अवयवोंको एवं इन्द्रियोंको एक स्थानमें जोड़कर रखनेवाली एक अविभाज्य शक्ति है। यह अविभाज्य शक्ति ही जीवात्मा है। श्वासकी क्रिया इसी तत्त्वके कारण चला करती है। शरीरको ठीक रखना इसी तत्त्वका काम है। संवेदना, अनुभव, ज्ञान,

स्मरण, इच्छा, द्वेष, क्रोध इत्यादि वृत्तियाँ इसीके गुण हैं *। बचपनसे बुढ़ापे तक 'स एवाहं' (मैं वही हूँ) की भावना इसी अविनाशी वस्तुकी निरन्तर होनेवाली एक-सी अनुभूतिसे ही पैदा होती है।

अध्यात्मवादियोंके इन विचारोंपर यदि अधिक गहराईसे विचार करें, तो वे टिकनेवाले नहीं हैं। यह माना कि आज तक रसायनशालामें सजीव पिंडका निर्माण नहीं किया जा सका, तथापि पदार्थ-विज्ञान (Physics) और रसायन-शास्त्र (Chemistry) के आधारपर इन्द्रिय-विज्ञान (Physiology) और जीवन-शास्त्र (Biology) जो प्रगति कर रहे हैं तथा जीव-पिंडमें विद्यमान अनेक ऐसी बातोंका, जो आजतक गूढ़ मानी जाती हैं, आविष्कार कर रहे हैं उससे निश्चित रूपमें इसका प्रमाण मिल जाता है कि जीवात्माका देहसे अतिरिक्त अन्य कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

सजीव देहपिंड अपने चारों ओरकी अजीव सृष्टिहीसे उत्पन्न हुआ और विकसित हुआ है। चारों ओरकी परिस्थितिपर ही वह निर्भर है। उस परिस्थितिका ही जीव-पिंड एक परिणाम है। डेढ़ सौ अंशसे कम तथा शून्यसे अधिक उष्णतामें ही इसका अस्तित्व रह सकता है। पृथ्वीसे पाँच मीलकी अपेक्षा अधिक ऊँचाईके वातावरणमें वह जीवित नहीं रह सकता। जिस परिस्थितिमें कार्बनप्रधान प्रोटीन नामक संयुक्त द्रव्य उत्पन्न नहीं हो सकता, उसमें इसका अस्तित्व असंभव है। जलानेवाली उष्णतामें तो किसी भी प्रकारका जीवपिंड नहीं टिक सकता।

---

* प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नश्चात्मनो लिङ्गानि। (वैशेषिक सूत्र ३।२।४) अर्थात् 'श्वास-उच्छ्वास, आँखोंका खुलना बन्द होना, जागना, मानसिक क्रिया, भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके विकार, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष प्रभृत्ति आदि प्रवृत्तियाँ आत्माके लक्षण हैं।

विशेष भौगोलिक परिस्थितिमें ही विशेष जातिके जीवपिंड उत्पन्न होते हैं और बढ़ते हैं। जिस समय उन भौगोलिक परिस्थितियोंमें परिवर्तन हो जाता है, उस समय उनकी जातिकी जाति नष्ट हो जाती है। पृथ्वीके ऊपर जो कठिन एवं मृदु भूमिके स्तर एकके ऊपर एक बने हुए भूगर्भ-शास्त्रज्ञोंने छान-बीनकर देखे हैं, उनमें ऐसा देखनेमें आया है कि भिन्न भिन्न स्तरोंमें भिन्न भिन्न जातिके प्राणी जीवित रहते थे। प्राकृतिक उत्पातके कारण उलट-पुलट हो जानेसे जो नवीन भूमिका स्तर ऊपर आ जाता, उसपर नयी प्राणि-सृष्टिका जन्म हुआ करता। पृथ्वीके ये एकपर एक रचे गये स्तर मानों वनस्पति, प्राणी, एवं खनिज पदार्थोंके इतिहासका प्रकृतिद्वारा सँभाल कर रखा गया अत्यंत विश्वसनीय ग्रन्थ है। इस ग्रंथको देखनेसे तथा इसका जो पन्ना आज खुला हुआ है, उसको पढ़नेसे यही प्रतीत होता है कि सजीव सृष्टि इस अजीव निसर्गका ही एक भाग है। उसी अजीव सृष्टिमें रूपान्तर हुआ और वही श्वासोच्छ्वास लेने लगी, उसीके आँख और कान पैदा हो गये, उसीको अपने संबंधमें अनुभूति होने लगी। अनादि कालसे अज्ञानकी घोर नींदमें सोया हुआ यह निसर्ग जीव-पिंडके रूपमें जाग गया और अपना अवलोकन करने लगा गया।

इस जीव-पिंडका परीक्षण करनेसे उसकी रचनामें अजीव एवं अचेतन द्रव्य ही मिलते हैं। उसके धारण और पोषणके लिये भौतिक द्रव्य ही काममें आते हैं। वे द्रव्य यदि न मिलें, तो वह नष्ट हो जाता है। जीवात्मापर विषोंका, रोगोंका और औषधोंका प्रभाव पड़ता है। जीवात्मा नामकी वस्तु यदि शरीरसे भिन्न होती, तो अन्नका, रोगोंका एवं विषोंका उसपर कोई प्रभाव न पड़ता। जिन वस्तुओंपर अन्न, रोग और विष आदिका प्रभाव पड़ता हो, वे भौतिक एवं विकारशील वस्तुएँ ही होंगी।

स्मरणशक्ति, विचार करनेकी प्रवृत्ति, काम क्रोध आदि विकार, उत्साह, धैर्य, कल्पना-शक्ति आदि सब देह-धर्म हैं। थाइराईड (Thyroyd) और पिच्युएटरी (Pituitary) इत्यादि ग्रंथियों और अँतड़ियोंमेंसे उत्पन्न होनेवाले हार्मोन (Hormone) नामक संयुक्त द्रव्य कम हो जायँ, तो इन गुणोंपर उसका प्रभाव पड़ता है। इन द्रव्योंका शरीरसे बाहर स्वतंत्र रूपसे निर्माण किया जा सकता है। थाइराईड, हार्मोन यदि उचित परिमाणमें निर्मित न हों, तो निरुत्साह, चिड़चिड़ापन इत्यादि उत्पन्न होते हैं। उससे स्मरण-शक्ति एवं तर्क-शक्ति कम हो जाती है और विचारोंकी शृंखला टूटने लगती है। पिच्युएटरी ग्रंथिमेंसे हार्मोन यदि उचित परिमाणमें न उत्पन्न हों, तो इन्द्रियोंके गुणों या कार्योंमें विकार आ जाते हैं। हार्मोनका कार्य शरीरके भीतर भिन्न भिन्न इंद्रियोंके, कामोंमें सहायता पहुँचाना है। यदि यह सत्य होता कि स्मरण विचार, इच्छा, द्वेष आदि धर्म देहके न होकर उससे भिन्न किसी आत्माहीके होते तो उनपर इस हार्मोन नामक द्रव्यका प्रभाव पड़नेका कोई कारण नहीं रह जाता +।

शरीरकी रचना जिस परिमाणमें विविध गुणोंसे पूर्ण विकसित एवं अंगोपांगोंसे विभूषित रहती है, उसी परिमाणमें बुद्धि विविध, विकसित तथा प्रगल्भ स्वरूप धारण करती है। ज्ञानका विकास शरीरके विकास-पर निर्भर रहता हैं। शरीरका (मस्तिष्कके रूपमें) जितना कम विकास होता है, ज्ञानका भी उतना ही कम विकास होता है। सभी संवेदनाओं एवं मनोधर्मोंपर यह नियम लागू है। मस्तिष्क तथा ज्ञानेंद्रियोंके उत्पन्न एवं विकसित हुए बिना अन्तर्ज्ञान अथवा आत्मा (Consciousness)

+ Man the slave and the master, P. 113. by Mark Graubard.

उत्पन्न तथा विकसित नहीं होता। सारी मनोवृत्तियाँ (States of Mind) ज्ञानेन्द्रियोंपर ही आश्रित रहती हैं।

इस शरीरके विकासका प्रारम्भ-स्थान एक-पेशी (Single cell) जीव-पिंड है। पहले प्रोटोजोआ (Protozoa) जैसे जीव-पिंड रहते हैं। बादमें उनके संयुक्त संघ बनते हैं। मधुमक्खियोंके छत्तेकी तरह उनकी रचना होती है। आगे चलकर जलमें संचार करनेवाली मछलियों जैसे पिंड उत्पन्न होते हैं। उनमेंसे सरकने या रेंगनेवाले प्राणी तयार होते हैं। उसके बाद स्तन चूसनेवाले (Mammalian) प्राणी उत्पन्न होते हैं। वे बंदरकी-सी अवस्थामेंसे गुजरते हैं। रीढ़की हड्डीके सरल और सुदृढ होनेकी अवस्थामें आ जानेपर वामनमूर्ति मानव-पिंडका अवतार होता है। संवेदनाके भी उच्च तथा उच्चतर स्थितिमें पहुचनेका यही क्रम है। ज्ञान-तंतुकी संस्थाके साथ शरीर यंत्र (Bodily Machinary) जितना पूर्णताकी ओर जाता है, उतना ही मन, आत्मा किंवा ज्ञानशक्ति भी पूर्णताकी ओर जाती रहती है। यह मानना होगा कि इस पृथ्वीपर एक ऐसा समय था, जब जीवद्रव्य नहीं थे, केवल अजीव-द्रव्य ही थे। अंधो निसर्ग-शक्तिके संघर्षमें ही प्रगतिके बीज अर्थात् जीव-बीज तय्यार हुए *। जीवपिंडकी दृष्टिसे क्रूर एवं विध्वंसक निसर्गहीमें जीव-पिंड जैसे तैसे बनने लग गया। संहारकी अनेक परम्पराओंमेंसे, घातक शक्तियोंके पंजेमेंसे और संघर्षमय संग्रामोंमेंसे थोड़े थोड़े जीव जिंदा बचते हुए और अपना रास्ता निकालते हुए शांति तथा समाधानकी परिस्थितिमें प्रवेश करने लगे। करोड़ों अरबों जीव नष्ट हो जाते हैं और उनमेंसे कोई एक जीवित रहता है। यही अनुपात इस निसर्गमें चलनेवाले युद्धपर लागू है।

* The stream of life p. 36 by Julian Huxley.

कुछ ऐसे द्रव्य हैं, जिन्हें अजीव भी नहीं कहा जा सकता और सजीव भी नहीं कहा जा सकता। वे द्रव्य जीवों तथा जीवरहित वस्तुओंके मध्यकी शृंखला हैं। सूक्ष्म रोग-जन्तुओंका नाश करनेवाले जन्तुविरोधी (Bacteriophage) द्रव्य और सजीव शरीरको किंवा वनस्पतिको बाधा देनेवाले तथा उनपर बढ़नेवाले विषैले द्रव्य (Virus) जीव और अजीवको जोड़नेवाली मध्यवर्ती शृंखला हैं। ये भी रासायनिक संयुक्त द्रव्य ही हैं—ऐसा निश्चित किया जा सकता है। प्रोटीन (Protein) और उसके साथ संयोग पाये हुए न्युक्लिक ॲसिड (Nucleic Acid) मिलानेसे बने हुए न्युक्लुओ-प्रोटीन (Nucleoprotein) का नाम ही जीव-पिंड है। वनस्पतिपर तथा शरीरपर उसका एक कण पड़ा कि उनकी संख्या अनन्त गुणा बढ़ जाती है। यह जनन-शक्ति उनके जीवत्वका प्रमाण है।

मानव-शरीर जड़द्रव्योंसे बनी हुई अत्यन्त उलझी हुई रचना है। सारे जीव-पिंडोंसे सम्बन्ध रखनेवाले जिन प्रश्नोंका अभी तक समाधान नहीं हो पाया है, वे मानवके बारेमें भी पैदा होते हैं। परन्तु पदार्थ-विज्ञान और रसायन-विद्याके द्वारा अनेक प्रश्न हल हो चुके हैं। जिन प्रश्नोंका हल होना अभी बाकी है, वे भी इन्हीं शास्त्रोंके द्वारा हल होंगे। मानव-शरीरको यन्त्र मान कर चलें तो बहुत-सी बातोंका स्पष्टीकरण हो जाता है और शरीरकी अनेक हलचलोंका अर्थ लगानेके लिये रासायनिक द्रव्योंके नियम काममें आते हैं। स्नायुओंके सिकुड़ने और फैलनेका नियम रासायनिक द्रव्योंके परिणामसे ठहराया जा सकता है। शरीर एक प्रकारकी रसायनशाला है। उसमें इन्सुलिन (Insulin) द्रव्य पित्ताशयमें (Pancrea) से तयार होता है। हेमोग्लोबीन, ग्लुकोज, हार्मोन इत्यादि द्रव्य यकृत-ग्रन्थि इत्यादि अवयवोंमेंसे तय्यार होते रहते हैं। यन्त्र मानकर चलनेसे बहुत-सी रचनाओं अथवा घटनाओंका रहस्य समझमें आता है।

मस्तिष्ककी, ज्ञान-तन्तुओंकी तथा क्रिया-तन्तुओंकी व्यवस्था बड़े शहरोंके टेलीफोनके संगठनके समान व्यवस्थित काम करती है। हृदय एक पंप है। इस दृष्टिसे देखनेपर ही रक्तके प्रवाहका नियम ठीक ठीक समझमें आता है। आँख एक उत्कृष्ट प्रकारका कैमरा है। अपने आप अपनेको ठीक कर लेनेवाला और स्वतः ही अपनेपर नियन्त्रण रखनेवाला (Self-repairing and self-regulating Machine) देह एक उत्तम यन्त्र है। जब तक रक्तके रासायनिक संयुक्त द्रव्योंका काम ठीक रीतिसे चलता रहता है, तब तक इस यन्त्रका काम भी ठीक ढंगसे चलता रहता है। कार्बन डायॉक्साईड तथा प्राणवायु (Oxygen) का पुरावा जबतक ठीकसे होता रहता है, तब तक रक्तके रासायनिक पदार्थ व्यवस्थित रूपमें तय्यार होतें रहते हैं। इसीसे रक्तके दबावका काम ठीक ढंगसे चलता है। फुफ्फुसोंकी क्रिया रक्तके कार्यको सहायता पहुँचाती है। फुफ्फुसोंका कार्य ठीक चलनेके लिये मूत्र-पिंडों (Kidneys)के मध्यगत रासायनिक द्रव्योंकी उत्पत्तिको ठीक चलना पड़ता है। उसके लिये ॲड्रेनल (Adrenal) ग्रंथियोंको ॲड्रेनल द्रव्य मात्रासे अधिक न पैदा हो, इस बातका ख्याल रखना पड़ता है। अन्यथा रक्तके दबावपर उसका प्रभाव पड़ता है। मूत्र-पिंडका काम योग्य रीतिसे चलानेके लिये पिच्युएटरी (Pituitary) ग्रन्थिको व्यवस्थित परिमाणमें ही पिट्रिसिन तय्यार करना पड़ता है। इसी रीतिसे इस यन्त्रके कार्य एक दूसरेके आश्रयसे चला करते हैं *।

---

* Marxist Philosophy and the Sciences p. 103 by J. B. S. Haldane.

Life and Mechanism, chapter I by J. S. Haldane. Concerning man's origin, pp. 16-20 by Sir Arthur Keith.

जीव-पिंडकी तीन विशेषतायें

इस जीव-यन्त्रकी तीन ऐसी विशेषतायें हैं, जो अन्य यन्त्रोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्व रखती हैं। एक, यह कि इस जीव-यन्त्रके घटक बने हुए महत्त्वपूर्ण द्रव्य इस यन्त्रहीमें तय्यार होते हैं। उनसे यह यन्त्र (anabolism) सदा ही बनता रहता है। उन घटक द्रव्योंका नाश करनेकी क्रिया (Catabolism) भी इस यन्त्रमें स्वतः ही निरंतर चलती रहती है। दूसरी विशेषता यह है कि इसके अंगों और उपांगोंकी उत्पत्ति, विकास एवं विस्तार करनेके लिये अनुकूल व्यवस्था उसके जनक द्रव्योंमें पहलेसे ही रहती है। उसीको बीज-संस्था अथवा गर्भ-संस्था कहते हैं। बीजावस्थामें अथवा गर्भावस्था (Embryological organisation) में भविष्यमें बननेवाले अंग-प्रत्यंगोंके प्रकट होनेकी व्यवस्था रहती है। तहोंवाले पंखेको जिस प्रकार खोलते हैं, उसी प्रकार शरीरको भी बीजमेंसे अथवा गर्भावस्थामेंसे खोला जाता है। इसकी तीसरी विशेषता यह है कि अधिकाधिक विकसित जीव-पिंडमें उत्तरोत्तर अनुभूति बढ़ती जाती है। अनुभूति इस पिंडके अंतर्गत सब कामोंके लिये निर्माण नहीं होती। जैसे कि रक्तका प्रवाह होनेके लिये, अन्नपचनके लिये और रोग-बीजोंका संहार करनेके लिये, पेशियों एवं घटक धातुओंके बननेके लिये, शरीरमें रहनेवाले तीन प्रकारके ऐन्द्रियिक तथा संयुक्त द्रव्योंके उत्पादनके लिये यह पिण्ड अनुभूति अथवा ज्ञानकी सहायता नहीं लेता। अन्न-सम्पादन तथा शत्रु-नाश इत्यादि कुछ थोड़ी-सी क्रियाओंके लिये यह ज्ञान अनुभूति-रूप साधन शरीरमें उत्पन्न हुआ है। कालान्तरमें शरीरकी बहुत-सी क्रियाओंपर नियन्त्रण रखने जितना सामर्थ्य, ज्ञान तथा अनुभूति मनुष्यमें उत्पन्न होनेकी संभावना है। शरीरकी कुछ क्रियाओंमें ज्ञान तथा अनुभूतिकी आवश्यकता अनेक बार प्रतीत होती है। उदाहरणके

लिये श्वासोच्छ्वासकी क्रियामें ज्ञान तथा अनुभूतिकी प्रेरणा नहीं रहती। अनबूझे ही वह क्रिया चालू रहती है। उस क्रियामें कोई रुकावट पैदा हो अथवा शरीरमें ऐसे कुछ द्रव्य पैदा हों, जिनसे श्वासोच्छ्वासकी क्रियाको मात्रासे अधिक वेगसे चलना आवश्यक हो जाय, तब इस क्रियाके सम्बन्धमें ज्ञान तथा अनुभूति उत्पन्न होती है। मफलर बुननेकी क्रिया बहुत अधिक विचार न करते हुए अथवा मनमें कोई दूसरा ही विचार चल रहा हो, तो भी होती रहती है। परन्तु बीचमें कोई उलझन पैदा हो गई, तो उसकी जानकारी अवश्य होती है। अनुभूति, ज्ञान, विचार अथवा संवेदना (consciousness) जीवके खास प्रयोजनके लिये ही अस्तित्वमें आई है। यह जीव-पिंडमें एक विशेष सुधार है। महत्त्वपूर्ण साधनकी सहायता जीव-पिंडको मिली है। अजीव यन्त्रमें जिस प्रकार बार-बार सुधार होता रहता है, उसी प्रकार महत्त्वका सुधार जीवयन्त्रमें भी होता है। इस लिये यह जीवपिण्ड साधारण यन्त्र न होकर उससे भी अधिक उत्कृष्ट वस्तु है।

शरीरमें रहनेवाली और उसका निर्माण करनेवाली जो बीज-संस्था है, उसका महत्त्वका भाग है बीजमणिमाला (Chromosomes)। यह बीजमणिमाला सभी जीव-धर्मोंकी भौतिक नींव है और सभी आनुवंशिक गुणोंका अधिष्ठान है। इस मालामें बहुतसे बीजमणि (Genes) रहते हैं प्रत्येक बीज-मणिमें एक किंवा अनेक गुणधर्मोंका संग्रह होता है, प्रत्येक बीज-मणि विशेष विशेष गुणधर्मोंकी सारभूत शक्ति धारण किये रहता है। इस बीजमणिमें आनुवंशिक गुण भरा रहता है। बीजमणिमें यदि अंतर आ जाय, तो उससे उत्पन्न देहमें भी अन्तर आ जाता है। आनुवंशिक गुणोंमें जो परिवर्तन होते हैं और एक ही वंशमें कालान्तरसे जो अनेक अन्तर पैदा हो जाते हैं, उसका कारण बीजमणिमें

पैदा होनेवाला अन्तर ही है। उसी वंशमें बिना किसी दूसरे वंशके मिश्रणके कोई विलक्षण प्राणी उत्पन्न हो जाय, यह बहुत कम देखा जाता है। इस आकस्मिक परिवर्तनका (Mutation) कारण बीजमणिमें आया हुआ परिवर्तन हैं। बीजमणिमें कृत्रिम साधनोंसे भी परिवर्तन लाया जा सका है। शास्त्रज्ञोंने यह सिद्ध किया है कि ऐक्सरेके प्रयोगसे बीजमणिमें अंतर लाया जा सकता है*। जीव-पिंडकी विभिन्न रचनाओंका एवं भिन्न भिन्न कार्योंका उपादान कारण बीजमणि ही है। बीजमणि एक संयुक्त द्रव्य (Chemical aggregate) हैं। वह मूल द्रव्यकी अपेक्षा (Molecule) बड़ा होता है। एक्सरेकी शक्ति इस द्रव्यमें प्रवेश करती है और उसमें अनेक प्रकारके परिवर्तन पैदा करती है। एक बार यह परिवर्तन हुआ कि वह हजारों पीढ़ियों तक बना रहता है। पुनः बीज-द्रव्योंमें कोई गड़बड़ हो गई अथवा कोई स्थितिभेद हो गया, तो वंशमें या पीढ़ीमें पुनः अन्तर आ जाता है।

देहात्म-प्रत्यय और देहात्मवाद

जिस वस्तुकी सिद्धि करनेकी आवश्यकता नहीं, ऐसी यदि कोई वस्तु है, तो वह आत्मा ही है। आत्माका अर्थात् अपना अस्तित्व कौन अस्वीकार करेगा? 'अहं नास्ति' मैं नहीं, ऐसा कौन कहेगा? यदि किसीने ऐसा कहनेकी धृष्टता की भी, तो उससे पूछा जाय कि यह कहनेवाला कौन है? वह कहेगा—'मैं'। नहीं-नहीं कहते हुए भी उसे अपने अस्तित्वको प्रकट करना ही पड़ता है। आत्माका अस्तित्व वाद-

---

* Man the Slave and the Master, p. 136-142 by Mark Graubard.

विवादकी वस्तु नहीं है। परन्तु असली प्रश्न यह है कि आत्माका स्वरूप क्या है, देह ही आत्मा है या देहसे भिन्न कोई अन्य ? समस्त भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने इस सम्बन्धमें बड़े महत्त्वकी एक बात स्वीकार की है। वे कहते हैं कि ज्ञान एवं अनुभूति रखनेवाला प्रत्येक जीव यही समझ कर व्यवहार करता है कि देह ही आत्मा है। आद्य शंकराचार्यने इस प्रश्नका जो स्पष्टीकरण किया है, वह दुनियाके किसी भी तत्त्ववेत्ताके इस सम्बन्धमें किये गये स्पष्टीकरणसे अधिक अच्छा और बहुत ऊँचे दर्जेका है। जीवशास्त्रका और मानसशास्त्रका वह एक गंभीर रहस्य है। शारीर-भाष्यकी प्रस्तावनामें और समन्वय सूत्रके भाष्यके अंतमें उन्होंने यह कहा है कि यह प्रतीति समस्त जीव-व्यापारोंके मूलमें काम करती है कि देह ही आत्मा है। आत्माको देहसे भिन्न माननेवाले तत्त्ववेत्ता भी व्यवहार-कालमें देहात्मवादी ही होते हैं,—ऐसा आचार्यका निश्चयपूर्वक कहना है*। सभी भारतीय तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि देहात्मप्रत्यय (देहमें आत्माकी प्रतीति) स्वाभाविक और जन्मसिद्ध (Intuitive consciousness) है।

चार्वाकको छोड़कर शेष सभी भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने यही सिद्ध किया है कि आत्मवस्तु देहसे भिन्न है। वे कहते हैं कि यह माना कि देहको ही आत्मा समझनेकी बुद्धि स्वाभाविक है, किन्तु वह एक प्रकारकी जन्म-सिद्ध भ्रान्ति है, जो मानवमें निवास करती है। इसलिये इस भ्रान्तिको दूर करनेके लिये एवं देहसे भिन्न शुद्ध आत्माका दर्शन करनेके लिये तत्त्वज्ञानका अभ्यास करना चाहिये। उनका सिद्धान्त यह है कि देहसे भिन्न शुद्ध आत्माके दर्शनसे

* न च अनध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चित् व्याप्रियते।—शारीरभाष्य १।१।१

ही मुक्ति प्राप्त होती है। सब तत्त्ववेत्ताओंकी इस बारेमें एक ही सम्मति है कि देहको आत्मा माननेकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है और सर्वत्र पाई जाती है। देहको आत्मा समझनेकी यह जो प्रवृत्ति है, वह मिथ्या है किंवा गलत है, यह सिद्ध करनेका भार इन तत्त्ववेत्ताओंपर ही आ पड़ता है। स्वाभाविक अनुभवका प्रमाण तो इन अध्यात्मवादी तत्त्ववेत्ताओंके विरुद्ध जाता है। उन्होंने यह भी स्पष्ट रूपसे कह दिया है कि देहसे आत्माकी भिन्नताकी प्रतीतिका उत्पन्न करना अत्यंत कठिन है। उसके लिये बड़ी भारी तपस्याकी आवश्यकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि देहसे आत्मा भिन्न है, यह प्रतीति अत्यन्त कठिन प्रयाससे ही मनपर लादी जा सकती है। उस प्रतीतिको कितना भी क्यों न लादा जाय और कितना भी दृढ़मूल बनानेका प्रयात्न क्यों न किया जाय, तो भी देहको आत्मा माननेकी जन्मसिद्ध प्रवृत्ति फिर भी सर्वथा नष्ट नहीं होती। यह सभी धर्म-ग्रन्थ स्वीकार करते हैं कि बड़े बड़े ज्ञानियोंको भी अवसर आनेपर डिगते हुए देखा गया है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि देहसे भिन्न आत्माकी कल्पना बड़े भारी प्रयाससे जोर-जबरदस्तीसे निर्माण की जा सकती है। स्वाभाविक अनुभव तो जडवादहीके पक्षमें है। देहसे भिन्न आत्माकी कल्पना मनुष्यने बड़े प्रयाससे पैदा की है।

देहसे भिन्न आत्माको सिद्ध करनेवाले प्रमाणोंकी मीमांसा

आत्माको देहसे भिन्न सिद्ध करनेके लिये अध्यात्मवादी तत्त्ववेत्ता दो तरहके प्रमाण उपस्थित करते हैं। एक तार्किक प्रमाण (Rational evidence) और दूसरा शब्द-प्रमाण (Dogma)। शब्द-प्रमाण दो तरहका होता है—एक धर्मग्रन्थका तथा दूसरा अलौकिक व्यक्तियोंके आत्मानुभवका। तार्किक प्रमाणके सम्बन्धमें आद्य शंकराचार्यने बृहदारण्यक भाष्यकी प्रस्तावनामें महत्त्वपूर्ण सूचना दी है। उन्होंने कहा है कि आत्म-

सिद्धि करनेवाला तार्किक प्रमाण बिल्कुल लँगड़ा है। नैयायिक इत्यादि जो दार्शनिक तर्कद्वारा आत्माकी सिद्धि करना चाहते हैं, उन्हें अपने तर्ककी दुर्बलताका ज्ञान नहीं है। शब्द-प्रमाण ही अंतमें आत्मप्रतीतिका अबाधित साधन है। अब हम महत्त्वपूर्ण तार्किक प्रमाणोंपर विचार करेंगे और उसके बाद अलौकिक अनुभवकी चर्चा करेंगे।

अध्यात्मवादी कहते हैं कि बचपनसे लेकर वृद्धावस्था तक 'स एवाहम्' (मैं वही हूँ) ऐसा जो अनुभव होता है, उससे यह गर्भित अभिप्राय प्रकट होता है कि देहसे 'मैं' भिन्न वस्तु है। बचपनका शरीर और बुढ़ापेका शरीर—इनके सारे घटक द्रव्य बदलते रहते हैं। अर्थात् सारा शरीर ही बुढ़ापेमें पहलेके शरीरसे भिन्न हो चुका होता है। इसका सीधा सादा उत्तर यह है कि बचपनसे लेकर मरणपर्यंत एक अविच्छिन्न द्रव्य-परम्परा किंवा एक प्रकारका वस्तु-प्रवाह रहता है। उससे 'स एवासौ' (वह वही है) ऐसा प्रत्यय (ज्ञान) होता है। दियेकी ज्योतिमें लगातार परिवर्तन होता रहता है। उसे देखकर यही लगता है कि वह वहीका वही है। पुरानी इमारतमें पर्याप्त अन्तर आ जाता है, फिर भी हम यही कहते हैं कि यह वही पुरानी इमारत है। सैकड़ों वरस पहलेके पेड़को देखकर हम यही कहते हैं कि सौ वर्ष पहलेका यह वही पेड़ है। घटक या अवयव भले ही बारबार बदलते रहें; पर उनकी सतत परम्परा और सामान्य रूप-रेखा जब तक वहीकी वही रहती है, तब तक वस्तुका व्यक्तित्व एक ही है, ऐसा हम समझा करते हैं। अजीव वस्तुके लिये व्यक्तित्वका जो नियम हम लागू करते हैं, वही सजीव वस्तुके लिये भी लागू होता है। उससे यह सिद्ध नहीं होता कि आत्मा शरीरसे भिन्न है।

अध्यात्मवादी कहते हैं कि प्रत्येक इन्द्रियसे भिन्न भिन्न अनुभव हुआ करता है और प्रत्येक इन्द्रिय भिन्न रहती है। परन्तु 'जो मैं आँखोंसे वस्तुको देखता हूँ, वही मैं स्पर्शसे वस्तुका अनुभव लेता हूँ,'—इस

प्रत्ययमें अनेक इन्द्रियोंके व्यापारमें मध्यस्थ रहनेवाला कोई स्वतंत्र 'मैं' दीखता है। ज्ञानेन्द्रिय संस्थाकी जो व्यवस्था और घटना है, उससे इस प्रश्नका ठीक उत्तर मिलता है। प्रत्येक इन्द्रिय सर्वथा एक दूसरेसे अलग नहीं है। सारी इन्द्रियाँ एक ही ज्ञानेन्द्रिय संस्थाके अवयव हैं। उनकी एक दूसरेके साथ संगति है। अतः ऐसा प्रत्यय होता है कि यह सब अनुभव लेनेवाला एक ही है।

गौतमने न्याय-सूत्रमें देहसे भिन्न आत्माकी सिद्धिका एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण उपस्थित किया है *। प्रत्येक जन्मधारी मनुष्यकी कुछ स्वाभाविक अभिरुचि अनेक अनुभवोंके संस्कारसे निर्मित होती है। जन्मसिद्ध अभिरुचिको देखनेसे सिद्ध होता है कि इस जन्मसे पूर्वके अनुभवोंसे अभिरुचियाँ बनी हैं। पूर्व जन्मकी वासनाएँ इस जन्ममें प्रकट होती हैं,—ऐसा इन जन्मसिद्ध अभिरुचियोंको देखकर कहना पड़ता है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसकी कुछ जन्मजात अभिरुचियाँ न हों। इस प्रश्नका उत्तर अनुवंश शास्त्र (Law of heredity) तथा इन्द्रिय-विज्ञानकी सहायतासे अब मिलने लग गया है। माँ-बाप जिस वंशके होते हैं, उसका स्वभाव सन्तानमें अवतीर्ण होता है। वंश-स्वभावका आधार भौतिक द्रव्य ही है,—जैसे जैसे बीजमगिमालासंबंधी खोज आगे बढ़ती जाती है, वैसे वैसे यह बात अधिक मात्रामें सिद्ध होती जाती है कि वंश-स्वभावका आधार भौतिक द्रव्य ही है। प्रत्येक व्यक्तिकी जन्मसिद्ध भिन्न भिन्न अभिरुचि उस व्यक्तिके देह-पिंडकी विशेष बनावटपर एवं परिस्थितिपर निर्भर रहती है। अभिरुचि अनुभवोंके पूर्व संस्कारोंपर ही अवलंबित रहती है, यह बात सर्वांशमें सत्य नहीं है। बाह्य परिस्थिति एवं शरीरके भीतरके संयुक्त द्रव्योंमें

* वीतरागजन्मादर्शनात्। -न्यायदर्शन।

(Organic chemical compounds) अंतर आ जानेसे अभिरुचिमें भी अंतर आ जाता है। आयुर्वेदमें, आधुनिक इन्द्रिय-विज्ञानमें और रोगशास्त्र(Pathology) में इस कथनको पुष्ट करनेवाले प्रमाण तथा उसके अनुकूल सिद्धान्त दिये गये हैं। सामान्य मनुष्य भी यह जानता है कि रोगोंका प्रभाव अभिरुचिपर पड़ता है। पहलेके अनुभवका अथवा उससे उत्पन्न होनेवाले संस्कारका उस अभिरुचिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

भौतिक विज्ञानसे सम्बद्ध प्रश्नोंका विवेचन ऊपर हमने किया। आत्माके स्वतंत्र अस्तित्वका एक नैतिक प्रमाण भारतीय तत्त्ववेत्ता देते हैं। कुछ व्यक्तियोंको जन्मतः ही समृद्धि, वभव तथा अन्य अच्छी स्थिति प्राप्त होती है और कुछ व्यक्ति जन्मसे ही दीनता, दरिद्रता तथा अन्य विपत्तियोंके शिकार हो जाते हैं। यदि हम यह न कहें कि पहले जन्मके उनके कर्म उनकी सुस्थिति और दुःस्थितिके लिये कारण हैं, तो यह कहना पड़ेगा कि विना किसी सत्कर्म एवं दुष्कर्मके किये उन्हें सुस्थिति किंवा दुःस्थिति प्राप्त हुई है। इसी प्रकार इस जगतमें ऐसे अनेक लोग है, जो जन्मभर अच्छे मार्गपर चलते हैं, किन्तु सारी आयु उन्हें कष्टोंका ही सामना करना पड़ता है। यदि यह माना जाय कि उनके लिये पुनर्जन्मकी व्यवस्था नहीं है, तो कहना होगा कि उन्हें उनके सत्कर्मोंका फल नहीं मिलता। कर्म करनेवाले व्यक्तिको सत्कर्म और दुष्कर्मका योग्य फल यदि नियमसे नहीं मिलता, तो इससे यह सिद्ध होता है कि सत्कर्म व्यर्थ चले जाते हैं और दुष्कर्मोंका फल सदा बुरा ही हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। ऐसी अवस्थामें व्यक्ति नीतिपूर्वक ही व्यवहार क्यों करे और अनीतिपूर्वक क्यों न करे,—इसका कोई उत्तर नहीं मिलता। पुनर्जन्म माननेसे पुनर्जन्म लेनेवाला स्वतंत्र आत्मतत्त्व

सिद्ध होता है और पाप-पुण्य, सुकृत-दुष्कृत और नीति-अनीति आदिकी योग्य उपपत्ति बैठ जाती है। *

यह नैतिक प्रमाण शुद्ध तार्किक विचारके सामने नहीं टिक सकता। नीति एक सामाजिक वस्तु है। नीतिका संस्थाके रूपमें एक इतिहास है। नीति सामाजिक आवश्यकतासे उत्पन्न होती है। मनुष्योंके आपसी सम्बन्धोंमें व्यवस्था बनाये रखनेके लिये मनुष्य-जातिने ही नीतिको संस्थाके रूपमें जन्म दिया है। जैसे जैसे समाज विकसित होता जाता है, वैसे वैसे उसकी नैतिक कल्पनाएँ भी प्रगल्भ होती जाती हैं। जन्मसे पहलेके तथा मृत्युके बादके काल्पनिक जीवनके साथ नीति और अनीतिका सम्बन्ध जोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है। नीतिके बिना समाजका जीवन ही बिगड़ जाता है। नीति विश्वका किंवा प्राणि-सृष्टिका नियम नहीं है। नीति मानव-निर्मित कानून है। भिन्न भिन्न सामाजिक परिस्थितियोंमें नैतिक नियम भी भिन्न भिन्न रहते हैं। भारतीय धर्मशास्त्रोंमें शूद्र और दासताकी व्यवस्था नैतिक दृष्टिसे धर्मके अनुकूल मानी गई है। अस्पृश्यताकी संस्थाको भी नैतिक दृष्टिसे धर्मशास्त्रोंने धर्मका अंग माना है। स्मृतियोंकी दृष्टिमें वे लोग पापके भागी होते हैं और मरनेके बाद नरकमें जाते हैं, जो अस्पृश्यता निवारण करते हैं। जात-पाँतकी मर्यादाको तोड़नेवालोंको स्मृतियोंके नियमानुसार अधोगति मिलती है। अहिंसा, सत्य इत्यादि व्यापक नैतिक नियम ही मरनेके बाद मिलनेवाली गतिके कारण माने जाते हैं। ऐसा कौन कह सकता है कि देशकाल और परिस्थितिके अनुसार बदलनेवाले

---

* कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसंगः। अर्थात् किये हुए कर्मका फल न मिलना और न किये हुए कर्मका फल मिलना,—यह उचित नहीं है।—इस सिद्धान्तका प्रतिपादन भारतीय अध्यात्मवादी दर्शनकार करते हैं।

आचारोंका परलोककी गतिसे सम्बन्ध नहीं है। पर, यह भी ठीक नहीं। इसका कोई भी प्रमाण नहीं है कि सत्य अहिंसा इत्यादि व्यापक नैतिक नियम तत्त्वतः सम्पूर्ण है। इसी प्रकार इसके लिये भी कि उनका परलोककी गतिसे सम्बन्ध है, सिवाय परम्परागत अन्धश्रद्धाके अन्य कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति समाजका घटक है। अतः सामाजिक परम्पराओंमें पुण्य और पापकी जो कल्पनाएँ रूढ़ हो गई हैं, वे ही व्यक्तियोंकी भावनाओंमें जड़ पकड़ जाती हैं। कुछ लोगोंमें धार्मिक विधिके रूपमें मद्य-पान अत्यंत पवित्र माना जाता है। परन्तु ब्राह्मणोंके स्मृति-शास्त्रमें मद्य-पानको सब परिस्थितियोंमें महापाप माना गया है। यज्ञमें गोहत्या करना प्राचीन वैदिक आर्य पवित्र माना करते थे। सामाजिक परिस्थितिमें परिवर्तन आ जानेसे बदल जानेवाले नैतिक नियमोंकी गणना विश्वव्यापी नियमोंमें नहीं की जा सकती। नीति एक सामाजिक उत्तरदायित्व है। परम्परासे आनेवाले संस्कारोंके कारण उत्तरदायित्वकी यह भावना अधिक गहरी पैठती जाती है और वह वैयक्तिक सदसद्विवेक बुद्धिका रूप धारण कर लेती है। जन्मसे दरिद्रता तथा दुःस्थिति और जन्मसे ही समृद्धि तथा सुस्थितिका कार्य-कारणभाव व्यक्तिके कर्म-विपाकसे बँधा हुआ नहीं है। उसका सम्बन्ध आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाके साथ है।

दरिद्रता और समृद्धिसे पूर्व जन्मके कर्मोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। उच्च वर्गके सत्ताधारी लोगोंने अपने स्वार्थ एवं स्थितिके समर्थन तथा संरक्षणके लिये पुनर्जन्मकी कल्पनाको महत्त्व दिया है। हीन स्थितिकी दीन जनताको उसी गुलामी और पतित स्थितिमें जकड़े रखनेके लिये उच्च वर्गोंने आज तक कर्मफलके सिद्धान्तका उपयोग किया है। समाजके हीन बहुजनसमुदायको सदाके लिये दुर्दैवके बन्धनमें जकड़ रखनेके

लिये कर्म-फलका सिद्धान्त एक अमोघ शस्त्र है। उनकी दुर्दशाके जो ऐहिक एवं सामाजिक कारण हैं, उनका उनको ज्ञान हो नहीं पाता। उनकी दुर्दशाके कारण अत्यन्त गूढ़ हैं। उनके अपने ही पूर्वजन्मोंके कर्मसे वह परिस्थिति निर्माण हुई है। वे स्वयं ही उस परिस्थितिके लिये उत्तरदायी हैं। ये और ऐसे अन्य भ्रम और आत्मवंचना इस आत्मवाद,—कर्मफलवाद तथा पुनर्जन्मवादके द्वारा उनके हृदयमें जड़ पकड़ लेती है। परिणाम उसका यह होता है कि उनकी दुरवस्थाके लिये वास्तवमें उत्तरदायी सामाजिक रचना एवं उनका अधः-पतन करानेवाले सामाजिक कानून आदिके विरुद्ध प्रतिकार करनेकी भावना उनमें पैदा ही नहीं हो पाती। पारलौकिक कल्पनाओं और कर्म-सिद्धान्तरूपी दैववादसे प्रतिकारकी भावना समूल नष्ट हो जाती है। पुनर्जन्म माननेवाली आत्मवादी विचारधारासे मनुष्यजातिका जितना पतन हुआ है, उतना अन्य किसी विचारधारासे नहीं हुआ। कारण उसका यह है कि चारों ओरकी जीवनविरोधी परिस्थितिका तथा वस्तु-स्थितिका अवलोकन करनेवाली विवेक-दृष्टि ही इस विचारधारासे मंद हो गई है। बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाली विचार-धाराको अध्यात्मवादका नाम किस आधारपर दिया जाय? यह विचार-धारा तो आत्माके ज्ञानस्वरूपको ही मैला कर डालती है।

नीति एक सामाजिक आवश्यकता है और मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। बस यही विचार नीतिका समर्थन करनेके लिये पर्याप्त है। उसके लिये देहसे भिन्न आत्मा, पुनर्जन्म, पाप-पुण्य और जीवोंका नियंत्रण करनेवाले ईश्वरको माननेकी क्या आवश्यकता है? इन सबको माननेसे नीतिकी आधारशिला मज़बूत नहीं होती। नीति जब अनीतिका रूप धारण करती है और मनुष्यके मनुष्यत्वका विनाश करनेके लिये आगे

बढ़ती है, तब इस घातकी तथा आत्मनाशक परिस्थितिको सँभालनेका काम ये कल्पनाएँ करती हैं। ये कल्पनाएँ देशकाल तथा परिस्थितिके अनुसार बदलनेवाले आचारोंको शाश्वत मूल्य दे देती हैं। अशाश्वतको शाश्वत बनाकर दिखानेवाली कल्पनाएँ सबसे बड़ा भ्रम हैं। इनसे छुटकारा पाना आजकलके लिये असली मोक्ष है।

कैंटने व्यावहारिक बुद्धिकी मीमांसा (Critique of Practical reason) करते समय अमर आत्मा एवं सम्पूर्ण परमेश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेवाली विचार-धाराका प्रतिपादन किया है। उसकी प्रतिध्वनि पाश्चात्य देशोंके तथा भारतके विचारोंपर भी पड़ी हुई दीख पड़ती है। फिर भी महत्त्वकी एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये। कैंटने स्पष्ट कहा है कि अमर आत्मा एवं ईश्वरकी कल्पना शुद्ध विचारोंकी कसौटीपर पूरी नहीं उतरती। मनुष्यकी बुद्धिपर आज तक जो संस्कार होते आये हैं और जो भावना दृढ़मूल होती आई है, उनपरसे उसने कुछ अनुमान स्थिर किये हैं। फिर वह यह समझने लग जाता है कि मनुष्यमें अनंत आनंद (Happiness) और अनंत सद्गुणों (Virtues) की वासना रहती है। उसकी यह वासना जीवमें पूरी तरह घुल मिल गई है। इस वासनाका अर्थ है आत्मामें निवास करनेवाली अपरिहार्य एवं अमर्याद प्रेरणाशक्ति (Categorical imperative)। एक ही जन्ममे कोई भी जीवात्मा अनंत सद्गुण एवं अनंत आनंदका अनुभव नहीं ले सकता। अतः मानना पड़ेगा कि उस अनंत आनन्द एवं सद्गुणोंका अनुभव लेनेके लिये जीवात्माको अनंत काल तक बना रहना चाहिये। अर्थात् आत्माको अमर होना चाहिए। आनन्द और सद्गुणोंके अनन्त होनेकी इस कल्पनापर विचार करनेसे ईश्वरविषयक अनुमान भी निकलता है। जहाँ परम आनन्द रहता हो और जहाँ सद्गुणोंकी पराकाष्ठा होती हो,

ऐसा एक सत् तत्त्व होना ही चाहिये। उसके अभावमें अमर्याद आनन्द एवं अनन्त सद्गुणोंकी कल्पना की ही नहीं जा सकती। इसी सत् तत्त्व-को ही परमात्मा नाम दे दिया गया है। वासनासे बँधे हुए जीवात्माकी पूर्णता ही परमात्मा है। पूर्ण आनन्द और अनन्त सद्गुणोंका वह निधान या खजाना है। अतएव वह परम मंगल तथा परम सुंदर है और आनन्द एवं सद्गुणोंकी पूर्णताका ही अर्थ है सौन्दर्य एवं मांगल्यकी परम अवधि।

जीवकी विक्षिप्त वासनाके दुर्बल आधारपर ही तो कैंटने यह ऊँचा तर्क-शास्त्र खड़ा किया है। परन्तु, इसकी आधार-शिला बहुत ही खोखली है। मनुष्यको शाश्वत तारुण्यकी आकांक्षा रहती है। बहुतोंकी यह चाह रहती है कि उनका शरीर चिरकाल तक बना रहे। ऐसी इच्छा होती है कि सुन्दर और कोमल फूल न कभी मुरझाये और न कभी सूखे, अतः-शाश्वतकाल तक तारुण्यहीमें बना रहनेवाला इस शरीरसे भिन्न कोई शरीर अवश्य है, अथ च कभी न मुरझानेवाले और न सूखनेवाले फूल अवश्य हैं, ऐसा अनुमान करनेवाले अबोध जीवमें और कैंटकी आत्माके सम्बन्धमें की गई कल्पनामें विशेष अन्तर नहीं है। वासनाओंके मनोविज्ञानकी पृष्ठभूमिसे सोचनेवाला कहता है कि मनुष्यके भीतर बसनेवाले मनमें अविज्ञात रूपसे न जाने कितनी भली बुरी तथा विक्षिप्त वासनाएँ दीर्घ काल तक छिपी रहती हैं। उन वासनाओंमें अनेक ऐसी वासनाएँ भी रहती हैं, जो ऊटपटाँग, उच्छृंखल, अव्यवस्थित तथा मिथ्या कल्पनाओंके आधारपर बनी होती हैं। सावधानीसे बनाई गई तथा व्यवस्थित विचारों-पर आश्रित रहनेवाली वासनाओंकी संख्या, धर्मसंस्थाओं द्वारा किये गये प्रचारकी कृपासे, बहुतोंमें कम हो जाती है। अमरत्वकी वासना असंतुष्ट जीवकी अज्ञानपूर्ण कल्पनापर आश्रित है। जिस वस्तुकी आकांक्षा होती

है, वह होती ही है,—ऐसा कोई नियम नहीं है। अतिशयोक्तिपूर्ण, विपर्यस्त तथा असंगत कल्पनाओंके (Imagination) आधार पर उत्पन्न हुई कितनी ही वासनाएँ मनुष्यके मनमें घर कर जाती हैं। उन्हींमेंसे एक यह अनंत आनंद और अनंत सद्गुणोंकी कल्पना है। कैंटने उसमेंसे तथ्य निकालनेका सर्वथा व्यर्थ प्रयत्न किया है। ऐसे अनेक लोग हैं, जिन्हें यदि अनंत सद्गुण एवं अनंत आनंदका अर्थ खोलकर बता दिया जाय, तो वे निश्चय ही यह कहेंगे कि ये वस्तुस्थितिके सर्वथा प्रतिकूल कोरी कल्पनायें हैं। ऐसे कितने ही दृढ़ मानसिक शक्तिवाले लोग मिलते हैं, जिनमें अमरत्वकी वासना नहीं रहती। कितने ही निरोगी मनवाले ऐसे जीव इस मानव-समाजमें हैं, जिनमें अमर्याद आनन्द और अमरत्वकी वासना नहीं रहती और जिन्होंने सीमित स्वरूपमें जीवनका अर्थ समझ लिया है। सारे ही जीव बेसिरपैरकी निराधार कल्पनाओंके शिकार नहीं रहते। निरोगी अन्तःकरण भी इस जगत्में हैं। इस परिमित जीवनका व्यवस्थित एवं परिमित अर्थ समझकर संयमपूर्ण उज्ज्वल एवं विनयशील जीवन वितानेवाले निर्मल मनके जीव जगतमें हैं. कैंट तथा उसके अनुयायियोंको यह अवश्य ही समझ लेना चाहिये। तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें कैंट केवल एक संवत्सरका ही स्थापक नहीं है, प्रत्युत वह एक युगका संस्थापक है। उसकी उज्ज्वल विचार-सम्पत्तिसे जगत्का विचार-दारिद्र्य बहुत कम हो गया है। उसने शुद्धबुद्धिकी मीमांसामें अमर आत्मा एवं ईश्वरको स्थान नहीं दिया, इससे उसकी बुद्धिकी सत्यनिष्ठाका ही पता चलता है।

आत्माके स्वतंत्र अस्तित्वको प्रकट करनेवाले तार्किक प्रमाणोंकी जाँच करनेके बाद अब हम शब्द-प्रमाणकी परीक्षा करना चाहते हैं। शब्द-प्रमाण इस सम्बन्धमें दो प्रकारके हैं। एक वेद, गीता, बाइबिल, कुरान

इत्यादि धर्मग्रन्थ और दूसरे उन महात्माओंके कथन, जिनको अलौकिक साक्षात्कार हुआ है। धर्मग्रन्थोंकी प्रामाणिकता तो रूढ़िसे ही सिद्ध होती है। उनको लोग क्योंकि परम्परासे मानते चले आये हैं, इसीलिये वे प्रामाणिक हैं। धर्मग्रन्थोंमें अलौकिक सामर्थ्य है, इसके लिये श्रद्धाके सिवाय कोई अन्य आधार नहीं है। यदि कोई यह कहे कि धर्मग्रथोंमें दी गई पारलौकिक कल्पनाओं और आत्मा-परमात्मासम्बन्धी कल्पनाओंका कोई आधार नहीं है, तो उसका कुछ भी योग्य उत्तर दिया जाना कठिन है। ऐसा कहनेकी अपेक्षा कि महात्माओंकी आन्तरिक अनुभूति अथवा आत्मानुभव वस्तुस्थितिपर आधारित रहता है, यह कहा जा सकता है कि जनताकी उनके प्रति अगाध श्रद्धा होनेके कारण ही उनको वैसा भास होता है। जंगली लोगोंकी अज्ञानसे पैदा हुई धारणाएँ समझ-बूझ रखनेवाले सयानोंमें भी प्रायः घर किये रहती हैं। उन्हींमेंसे यह श्रद्धा भी एक है। यह भ्रान्ति अनेक जंगली जातियोंमें रूढ़ हुई दिखाई देती है कि वृक्ष, पत्थर, नदी, नाला, जानवर इत्यादिमें जैसे एक-एक भूत रहता है, वैसे ही मनुष्योंमें भी रहता है। इस भ्रान्तिको सर टायलरने पिशाचवाद किंवा मूर्तपुरुषवाद (Animism) कहा है। जंगली लोगोंकी यह धारणा है कि मूर्त वस्तुओंमें पुरुष निवास करता है और जीवित मनुष्यमें भी वह रहता है। वह पुरुष जब निकल जाता है या अपना स्थान छोड़ जाता है, तब मनुष्य मर जाता है और मृत व्यक्तियोंके भूत बन जाते हैं। मृत व्यक्तियोंका स्वप्न आता है और उनकी आत्माएँ स्वप्नमें दीखती हैं। इन भूत-प्रेतोंकी सुधरी हुई आवृत्तिको ही अध्यात्मवाद नाम दे दिया गया है।

जंगली अवस्थासे आज तक चली आनेवाली कल्पनाओंके गहरे संस्कारोंके कारण आत्मदर्शन होता है। आत्माके दर्शनके लिए निरन्तर

वृत्तिको केन्द्रित करना पड़ता है। दीर्घ काल तक श्रद्धाके साथ चिन्तन किये बिना, निरन्तर ध्यान किये बिना, विशेष प्रकारकी नित्य उपासना किये बिना, आत्म-दर्शन नहीं होता। इस भावनाका निरन्तर अभ्यास करनेका उपदेश धर्मग्रन्थ किया करते हैं कि आत्मा देहसे पृथक् है। इसी भावनाको निरन्तर मनमें बिठाया जाय, तो उसके गर्भसे उसी प्रकारका अनुभव उत्पन्न होना अनिवार्य है। यह अनुभव किसी वस्तु या वास्तविकतापर निर्भर नहीं होता। भावनाके अभ्यासके कारण ही वस्तुके न रहनेपर भी उसका अनुभव किंवा प्रत्यक्ष प्रत्यय हुआ करता है। मानस-शास्त्रमें विशेषतः मनोविकृतिशास्त्रमें इसके बहुतसे उदाहरण मिलते हैं। महात्मा लोग इसके अपवाद नहीं हैं। उनके मनमें भी अनेक विकृतियाँ उत्पन्न होती रहती है। उनके चरित्रमें इसकी अनेक साक्षियाँ मिलती हैं। आत्म-साक्षात्कार इसी प्रकारकी विकृतियोंमेंसे एक है।

द्रव्यका स्वभाव और उसकी रचना

इस विश्वके स्वरूपका अर्थ समझते समय जडवादियोंने इन चार सिद्धान्तोंका निर्णय किया है—

(१) जडवादियोंका पहला सिद्धान्त यह है कि ज्ञाता और ज्ञेय अथवा समस्त सद्वस्तु नित्य परिवर्तनशील है। वस्तुओंका स्थान (Posities) बदलता रहता है, उनके घटक (compositicn) बदलते रहते हैं और उनके गुण-धर्म (Qualtion) बदलते रहते हैं। यह भूगोल प्रतिक्षण अवारित गतिसे अपना स्थान बदलता रहता है। यह वास्तविकता दिन रातके तथा वस्तुओंके नित्य परिवर्तनसे भी मनुष्यके सामने सदा आती रहती है। पृथ्वीका तथा भूगर्भका इतिहास बताता है कि वायुमय, द्रवमय, और घनरूप तीन अवस्थाओंमेंसे पृथ्वी गुजरी है।

इस पृथ्वीपर पहले वनस्पतियाँ नहीं थीं, वे उत्पन्न हुईं। प्राणी नहीं थे, वे पैदा हुए। मनुष्य नहीं था, वह भी पैदा हुआ। मनुष्यने इस सृष्टिमें अनेक अन्तर उत्पन्न किये हैं। पालतू जानवर आज अपने नैसर्गिक मूल स्वरूपमें नहीं हैं। उनमें मनुष्यने ही परिवर्तन पैदा किया है। मनुष्य वनस्पतिजन्य जिन धान्यों और फलों इत्यादिका उपयोग करता है, उनमेंसे बहुत-सी वनस्पतियाँ आज अपने मूल नैसर्गिक स्वरूपमें नहीं रह गई हैं। उनमें मनुष्यने न जाने कितना अंतर पैदा कर दिया है। मनुष्यके स्वभावमें तथा समाज-रचनामें अनेक स्थितिभेद उत्पन्न हुए हैं। उनकी विचार-धारामें, संस्कारोंमें तथा भावनाओंमें महान् परिवर्तनका यह क्रम नित्य अविकृत दृष्टिगोचर होता रहता है। परिवर्तनका अखण्ड प्रवाह चालू है। यह ज्योतिष शास्त्रसे पता चलता है कि इस पृथ्वीसे बाहरका विश्व कितना गतिमान है। यह सूर्य नित्य अपरिमित प्रकाश और उष्णताका त्याग किया करता है। इससे उसकी संघटना तथा गुण-धर्मोंमें भी अन्तर आता रहता है।

(२) दूसरा सिद्धान्त * यह है कि सद्वस्तुका संपूर्ण विनाश नहीं होता और सम्पूर्ण अभावमेंसे सद्वस्तु उत्पन्न नहीं होती। यह क्रम नित्य निर्बाध रूपसे चलता रहता है कि प्रत्येक सद्वस्तु किसी न किसी अन्य सद्वस्तुमेंसे ही निर्माण होती है, सद्वस्तुसे ही बनी होती है और किसी सद्वस्तुके आँखसे ओझल हो जानेपर उसके स्थानमें दूसरी सद्वस्तु निर्माण होती है। कपड़ा रुईसे तैयार होता है। घड़ा मिट्टीसे बनता है। घर, पत्थर, ईंट, लकड़ी इत्यादिसे

---

* Where is Science going, ex nihilo nihil fit, d. 117 by Max planck.

नासतो विद्यते, भावः। नाभावो विद्यते स्वतः।—गीता।

बनता है। बीज, खाद और पानीसे वनस्पति बनती है। ऑक्सिजन और हायड्रोजनसे पानी बनता है। ऑक्सिजन और हायड्रोजनके अणु (Molecules) विद्युत् कणोंसे बनते हैं। विद्युत्कण शक्तिद्रव्यात्मक (Energeticmatter) हैं। शून्यमेंसे कुछ भी नहीं बनता। ऐसा यदि न होता, तो मनोरथ मात्रसे सारे दरिद्री एकदम सेठ हो गये होते। नया जगत् पुराने जगत्मेंसे ही बना करता है।

जिस एक वस्तुमेंसे दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है, उसे द्रव्य कहते हैं। जिससे वस्तुएँ बनती हैं और जिसके गुणधर्म होते हैं, वह द्रव्य (Substance) है। द्रव्य (Substance) और गुणों (Qualities) का समुच्चय जगत् है। यह जगत् कार्य-कारणोंकी सतत परम्परा है। प्रत्येक वस्तु (Event) या घटना किसीका कार्य तथा किसीका कारण होती है। प्रत्येक विद्यमान वस्तु या घटना अपनेसे पूर्ववर्ती वस्तु या घटनाका कार्य होती है। प्रत्येक घटना कार्य-कारण भावकी अनादि एवं अनन्त मालाका एक मनका है। कार्य-कारण भावके विशिष्ट नियमसे प्रत्येक घटना एक दूसरेके साथ बँधी रहती है।

(३) तीसरा सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वस्तुमें स्वभावसिद्ध गति-शक्ति किंवा परिवर्तन-शक्ति अवश्य रहती है। अणुरूप द्रव्योंका जगत् बना करता है। उन अणुओंको आपसमें मिलने तथा एक दूसरेसे अलग अलग होनेके लिये जो गति (Motion) मिलती रहती है, वह उनका स्वभाव धर्म है। उनको परिचालित करनेवाला, उनको इकट्ठा करनेवाला और अलग अलग करनेवाला अन्य कोई नहीं है। इस विश्वमें जो प्रेरणा या गति है, वह वस्तुमात्रके स्वभावमेंसे निर्मित होती है। यंत्रका एक

पहिया घूमा कि दूसरा अपने आप घूमता है और पहली गतिके बाद दूसरी गति अपने आप उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार इस समस्त विश्वके चक्र इस स्वभाव-सिद्ध गतिके कारण अनादिकालसे फिरते चले आ रहे है। मनुष्यकृत यंत्रोंमें मनुष्यकी जिस प्रेरणाकी आवश्यकता रहती है, उसकी इस विश्व यंत्रको नहीं रहती। एकके बाद दूसरी गति-की एक अनादि परम्परा इस विश्वमें विद्यमान है। यह प्रश्न ठीक नहीं है कि प्रारम्भमें इस विश्वमें किसने गति उत्पन्न की। 'प्रारम्भमें' शब्दोंका अभिप्राय उस कालसे है, जब गति नहीं थी अथवा किसी प्रकारका कोई परिवर्तन नहीं था। ऐसे कालकी तर्कसम्मत कल्पना नहीं की जा सकती; जब कि किसी प्रकारका कोई भी परिवर्तन न रहा हो। ऐसे कालकी कल्पना करनेका अर्थ तो यह मानना हुआ कि एक समय था, जब सर्वत्र सर्वशून्यता थी। जब हम यह कहते हैं कि कोई वस्तु है, तो वह निश्चय ही कार्य-कारण भावसे बँधी रहती है। इसीलिये गति और परिवर्तनका रहना आवश्यक हो जाता है। सर्वशून्य स्थितिमेंसे कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

अज्ञानी मनुष्यको इसका ज्ञान नहीं रहता कि वर्षा किस तरह होती है। इसलिये वह मानता है कि कोई वर्षाको लाता है और उसको नीचे गिरा देता है। उस अज्ञानी मनुष्यने वर्षा करनेवाले इन्द्रदेवकी कल्पना कर ली। वह यह नहीं जानता कि सूर्यके प्रकाश एवं उष्णताका समुद्र-पर प्रभाव पड़ता है और वायुके गति-नियमके अनुसार मेघ तय्यार होते हैं। उनसे वर्षा होती है। यह समझमें आ जानेपर वर्षा और मेघोंको लानेवाले किसी देवकी आवश्यकता नहीं रहती। मनुष्य जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली संसारकी महत्त्वपूर्ण घटनाओंका कार्य-कारण भाव जब समझमें नहीं आता था, तब देवताओंकी कल्पना की जाती थी।

सूर्य और चाँदका उदय तथा अस्त होना, ऋतुओंका परिवर्तन, समुद्रका ज्वार-भाटा तथा तारोंकी गति इत्यादिका भौतिक कार्य-कारण-भाव जब मालूम नहीं था, तब वैदिक तथा अवैदिक देवता मनुष्यकी कल्पनामेंसे पैदा हुए थे। अब इन घटनाओंका तर्कसम्मत कारण और उनकी गति-विधिका विवेकयुक्त शास्त्र मिल गया है। इसी-लिये इस शास्त्ररूपी शस्त्रसे उन काल्पनिक देवताओंका कत्लेआम हो गया है।

प्रत्येक वस्तुकी घटनामें दो प्रकारसे परिवर्तन होता है। एक तो यह है कि वस्तुमें स्वाभाविक रीतिसे परिवर्तन होता है और दूसरा यह कि वस्तुपर उसके चारों ओरकी परिस्थितियोंका प्रभाव पड़नेसे परिवर्तन होता है। प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुसे जुड़ी या संलग्न रहती है। यह संलग्नता तीन प्रकारकी होती है। एक वस्तुका चारों तरफकी वस्तुओंसे सम्बन्ध रहता है, दूसरी वह वस्तु जिस वस्तुसे उत्पन्न हुई है, उसके साथ कार्य-कारण सम्बन्धसे जुड़ी रहती है, तीसरी उस वस्तुकी घटनाके गर्भमें दूसरी घटना रहती है और वह वस्तु एक तीसरी घटनाके गर्भमें रहती है। ये जो सारे वस्तुओंके सम्बन्ध हैं, उनकी ठीकसे जानकारी हो जाने पर यह भ्रान्ति या आशंका दूर हो जाती है कि वस्तुओंकी गति किंवा क्रियाके लिये कोई पहला प्रवर्तक (Prime Mover) चाहिये। कोई भी क्रिया पहली नहीं हुआ करती। प्रत्येक गतिसे किंवा क्रियासे पूर्व दूसरी गति किंवा क्रिया रहती है।

इस क्रियाका स्वरूप एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना ही नहीं होता। क्रियाशक्तिका केवल स्थानान्तर होना या चलायमान होना ही स्वरूप नहीं है। बीजका अँखुआ बनता है और अँखुएका वृक्ष बन जाता है। ऑक्सिजन हायड्रोजनका पानी बनता है, प्रकाशके अणु बनते हैं अथवा लहरें बनती

हैं। यह सारा बनना और होना भी क्रिया ही है। इस प्रकारकी क्रिया वस्तुका मूलभूत स्वभाव है। वह यदि न रहता, तो जो पहली बार गति देता है, उसके लिये भी वस्तुमें गति उत्पन्न करना संभव न होता। विश्व स्वयं प्रेरित है। उसे किसी बाह्य प्रेरककी आवश्यकता नहीं हैं। आत्म-प्रेरणा ही उसका स्वभाव है। उसे कोई दूसरा ढकेलता नहीं। ढलावपर पानी अपने आप बहता है। दियेमेंसे प्रकाश स्वयं निकलता है। सूर्यकी किरणोंके साथ प्रकाशधारा सहज स्वभावसे जगतूके कोने कोनेमें व्याप्त हो जाती है। पृथ्वीको कौन फिराता है? वह स्वयं फिरती रहती है। सूर्यमाला एवं तारे किसीके बगैर घुमाये फिराये अपने आप ही आकाशमें भ्रमण करते रहते हैं और विद्युतप्रवाह दसों दिशाओंमें निमेष मात्रमें व्याप्त हो जाता है। अंतःप्रेरणाके इस प्रकारके अनन्त उदाहरण विज्ञान उपस्थित करनेके लिये तय्यार है।

(४) चौथा सिद्धान्त यह है कि रचना, योजना, (Design) व्यवस्था, नियमबद्धता अथवा सुसंगति वस्तुका मूलभूत स्वभाव है। हम जब भी किसी वस्तुका किंवा वस्तुसमुदायका वर्णन करते हैं, तब वस्तुओं-की रचनाका किंवा व्यवस्थाका ही वर्णन किया करते हैं। वस्तुमें योजना या व्यवस्था नहीं, इसका अर्थ यही होता है कि वस्तु ही नहीं। जब हम सूर्यमालाका वर्णन करते हैं, तब सूर्यमालाकी व्यवस्था और योजनाका ही वर्णन करते हैं। सूर्यमालाकी जिस योजना किंवा व्यवस्थाका हम वर्णन करते हैं, यदि कोई कहे कि वह नहीं है, तो इसका स्पष्ट तात्पर्य यह हुआ कि सूर्यमाला (सौर-परिवार) ही नहीं है। रासायनिक संयुक्त द्रव्योंका वर्णन ही रसायन-शास्त्र (Chemistry) है। संख्या तथा परिमाणों (Quantities) का गुणों (Qualities) से सम्बन्ध प्रदर्शित करना ही प्रत्येक विज्ञानका मुख्य उद्देश्य है। संख्या

परिमाण एवं गुण-धर्मोंके सम्बन्धको हटा दें, तो अन्तमें शून्य ही बचेगा। "वस्तु है," इस कथनका यही अर्थ निकलता है कि एक विशेष प्रकारकी योजना और विशेष प्रकारकी व्यवस्था है। वस्तुकी योजनाका आकलन होना ही वस्तु-स्वरूपका आकलन है।

विश्वकी रचना अथवा योजना किसी दूसरेने नहीं की है। उष्णताका जलाना स्वाभाविक धर्म है। यह एक व्यवस्था अथवा योजना है। यह व्यवस्था किंवा योजना उष्णतामें किसी दूसरे व्यक्तिद्वारा लाई हुई नहीं है। यह तो उष्णताके अस्तित्वका ही एक पहलू है। 'H_2O' यह जलके मूल द्रव्यकी रचना है। यह जलका स्वभाव ही है। जलके ऊपर किसीने इसे लादा नहीं है। पार्थिव अथवा भौतिक द्रव्योंमें भिन्न भिन्न आकार, गंध और रंग रहते हैं। ये नानाप्रकारके आकार, रंग और गंध द्रव्यमें किसी चित्रकारके भरे हुए नहीं है। द्रव्योंका वह स्वभाव है। गणितशास्त्रकी व्यवस्था एवं कार्य-कारण-भावका नियम प्रत्येकके मूलमें है। ये सब बाहरसे लाकर किसीने उनपर थोपे नहीं हैं। संख्या, परिमाण एवं कार्य-कारण-भाव वस्तुस्वरूपके अंग हैं। हम वस्तुमें संख्या उत्पन्न नहीं कर सकते। वह वस्तुमें रहती ही है। वस्तुओंके कार्य-कारण-भावको पहचाना जा सकता है, किन्तु निर्माण नहीं किया जा सकता। कुशल वैद्य औषध एवं रोग-नाशके कार्य-कारण-भावको उत्पन्न नहीं करता, सिर्फ पहचानता है। बीज एवं वनस्पतियोंके कार्य-कारण-भावको पहचाननेका ही काम कुशल खेतिहर अथवा बागवान करता है। वह बीज और वनस्पतियोंके कार्य-कारण-भावका निर्माण नहीं करता। जिसे हम योजक, व्यवस्थापक अथवा कारीगर कहते हैं, वह योजक, व्यवस्थापक अथवा कारीगर वस्तुओंके स्वभावमें विद्यमान योजना किंवा व्यवस्थाको ध्यानमें रखकर ही काम किया करता है। वह योजना अथवा व्यवस्था उत्पन्न नहीं करता।

द्रव्यकी रचना तथा भिन्न भिन्न नियमपद्धति

द्रव्यकी रचना (Structure of Matter) के बदलनेपर उसके नियम भी बदल जाते हैं। विद्युत्कण और तेजकण (Electrons and Protons) इत्यादि सबसे तलेके द्रव्य-घटक मनुष्यको विदित हुए हैं। इन अणुओंके स्वभावसम्बन्धी नियमोंका पदार्थविज्ञानसे पता चलता है। इन अणुओंकी रचनामेंसे ऑक्सिजन, हायड्रोजन, कार्बन, रेडियम इत्यादि ९२ मूल द्रव्य (Elements) तय्यार हुए हैं। इन मूल द्रव्योंके कणों (Molecules) का स्वभाव तथा नियम आदि अणुओंके स्वभाव तथा नियमोंकी अपेक्षा भिन्न हैं। अणुओंकी शक्ति एवं मूल-द्रव्योंके कणोंकी शक्तिका (Energy Levels) अनुपात सर्वथा व्यस्त रहता है। मूल-द्रव्योंके कणोंकी अपेक्षा संयुक्त रासायनिक द्रव्योंके नियम भिन्न रहते हैं। पदार्थविज्ञान (Physics) जिन नियमोंका स्पष्टीकरण करता है, उसकी अपेक्षा रसायनविद्या (Chemistry) भिन्न नियमोंका विवेचन करती है। अजीव सृष्टिके नियम एवं जीव-सृष्टिके नियम भिन्न क्यों रहते हैं,—इसके अर्थका पता इन उदाहरणसे लगाया जा सकता है। जीव-सृष्टिके नियम अजीव-सृष्टिकी अपेक्षा किन्हीं अंशोंमें भिन्न हैं, अतः जीव-तत्त्व (Vital force) द्रव्य (Matter) की अपेक्षा सर्वथा पृथक् किंवा स्वतंत्र है,—ऐसा माननेकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। द्रव्यकी रचना बदल जानेपर जब नये गुणधर्मों-वाले द्रव्यका निर्माण होता है, तब इस नयी बननेवाली सृष्टिके नियम भी नये हो जाते हैं। वनस्पति-जीवनके नियमोंकी अपेक्षा प्राणि-जीवनके नियम अलग रहते हैं। प्राणि-जीवनके नियमोंसे मानवी जीवनके नियम अलग हैं। द्रव्यकी प्रत्येक नवीन अवस्थामें नये नियमोंकी व्यवस्था (System of Laws) रहती है। रसायनशास्त्रमें

अनैन्द्रियिक संयुक्त द्रव्य (Inorganic Compounds) और ऐन्द्रियिक संयुक्त द्रव्य (Organic Compounds) नामकी दो शाखाएँ हैं। इसका कारण द्रव्यकी दो भिन्न अवस्थाओंसे सम्बद्ध भिन्न भिन्न नियम-पद्धतियाँ हैं। मनुष्य-जीवनके नियमोंका निर्धारण करते समय अध्यात्म-वादी तत्त्ववेत्ता मनुष्यके शरीरमें निवास करनेवाली अमर आत्मा नामसे सर्वथा स्वतंत्र चेतन वस्तुको मानते हैं। परन्तु मनुष्य एक विशेष द्रव्यकार्य (Specific Material Structure) है। अतएव उसके गुण-धर्म भी भिन्न हैं। केवल अजीव-सृष्टिके सारे नियमोंको ध्यानमें रखकर जीव-सृष्टि और मनुष्यका स्वरूप पूरी तरह समझमें नहीं आ सकता। सजीव पिंड एवं मनुष्य द्रव्यकी एक विशेष अवस्था (A New Phase of Matter) है। इस लिए उस विशिष्ट अवस्थाका चित्र और चरित्र भी भिन्न है। उसके लिए पृथक् आत्म-तत्त्व (Spiritual entity) को माननेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। देहमें जब पृथक् आत्मतत्त्व ही नहीं है, तब यह भी सहज ही सिद्ध हो जाता है कि विश्वका अन्तर्यामी परमात्मा नामका तत्त्व भी नहीं है। विश्वका एक भिन्न आत्मा तभी सिद्ध हो सकता है, जब यह सिद्ध हो जाय कि देहमें एक पृथक् आत्मा है। विश्वकी गति-स्थितिके लिये परमात्माकी आवश्यकता नहीं है। प्राणी और मनुष्यके देहमें अलग कोई चैतन्य वस्तु है, इसके लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस चैतन्य वस्तुसे ही विश्व चैतन्यकी कल्पना उत्पन्न होती है।

अनीश्वरवाद

जड़वाद जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये ईश्वरकी आवश्यकता नहीं मानता। स्वभावसिद्ध कार्य-कारण-भावके नियमोंसे ही जगत्की प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति-स्थिति और प्रलयका क्रम चलता रहता है। विश्वके भीतर या बाहर ईश्वर नामका तत्त्व माननेकी जरूरत नहीं है। जगत्की किसी भी घटना और समस्त जगत्का अर्थ समझनेके लिये ईश्वरकी कल्पनाकी बिलकुल ही आवश्यकता नहीं है।

ईश्वर शब्दकी व्याख्या

ईश्वरका अर्थ कुछ लोग एक विलक्षण एवं अचिन्त्य शक्ति किंवा जगत्का मूलभूत तत्त्व किया करते हैं। विश्वमें रहनेवाली शक्ति किंवा तत्त्व ही ईश्वर शब्दका अर्थ नहीं है। ईश्वरका अर्थ है, जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकी कारणभूत सर्वज्ञ वस्तु चैतन्य अथवा ज्ञान उस वस्तुकी मुख्य विशेषतायें हैं। ईश्वरवादी समझते हैं कि विश्वकी प्रत्येक घटनाकी स्थिरता या स्थायीपन इस परमेश्वरी ज्ञानमें निश्चित रहता है और ईश्वरी संकल्पके अतिरिक्त किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रह सकती। सब वस्तुओंकी योजना ईश्वरकी बुद्धिमें हो चुकी होती है। ईश्वर शब्दके इस अर्थके सम्बन्धमें सारे धर्म-ग्रन्थ एक हैं। उनमें जो मतभेद हैं, वह ईश्वर और जगत्के परस्पर-सम्बन्धके स्वरूपके बारेमें हैं। समस्त विश्वका कारण बनी हुई सत्ताको ही जो ईश्वर मानते हैं उनको ईश्वरवादका अर्थ मालूम नहीं हैं। उस सत्ताके लिये एक महत्त्वपूर्ण विशेषणका प्रयोग करना होता है। वह विशेषण है

चिन्मय। वह सत्ता (Reality) चिन्मय अर्थात् ज्ञानमय है। यदि इस विशेषणको हटा दें, तो जडवादी इस कल्पनाका विरोध नहीं करेंगे। वह कारणभूत वस्तु यदि संवेदनारहित एवं संकल्पशून्य हो और ज्ञानमय किंवा ज्ञातृरूप न हो, तो वह ईश्वर नहीं हो सकती। ऐसी वस्तुके अस्तित्वके विषयमें जडवादी विशेष आपत्ति नहीं करेंगे। इससे जड़ और जगत्में कोई अन्तर नहीं रहता। वही जड़ है, वही जगत् है। ईश्वरका अर्थ सारे ईश्वरवादी लोग विचारोंकी एवं ज्ञानकी पूर्णता समझते हैं। इसी ईश्वरकी भक्ति करनेकी सारे धर्म-ग्रन्थ प्रेरणा करते हैं।

ईश्वरवादियोंमें जो मतभेद हैं, वे इस बारेमें हैं कि इस ईश्वरका जगत्-वस्तुके साथ क्या सम्बन्ध है। कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर विश्वसे मूलतः भिन्न है और वह विश्वका प्रेरक है*। जैसे कि रथका सारथी रथसे भिन्न होता है किंवा यंत्रको प्रेरणा देनेवाला यंत्रसे भिन्न होता है, वैसे ही ईश्वर भी विश्वसे भिन्न है। जिस प्रकार मिट्टीसे घड़ा बनाया जाता है, सूतसे कपड़ा बुना जाता है और लकड़ीसे रथ तय्यार किया जाता है, उसी प्रकार मूलभूत एवं शाश्वत जड़ द्रव्योंसे वह विश्वका निर्माण करता है। वह विश्वका कर्ता, स्वामी किंवा निर्माता है। उसे जो पिता या माता कहते हैं, उसका कारण यही है कि वह जगत्का कर्ता है। अन्य + ईश्वरवादी कहते है कि परमेश्वरने यह विश्व संकल्प मात्रसे एक जादूगरकी तरह निर्माण किया है। वह शून्यमेंसे निर्माण किया गया है। विश्व जो अस्तित्वमें आया है, यह उसकी इच्छा-शक्तिका प्रभाव है। विश्व वैसा ही पैदा हुआ है, जैसी

---

* भारतके द्वैतवादी वैष्णव इत्यादि।

+ मुसलमान धर्मके प्रवर्तक, वल्लभाचार्य इत्यादि और अन्य ईश्वरवादी (Monotheist).

कि उसको पैदा करनेकी उसकी इच्छा थी। इसीलिये उसे सत्य-संकल्प कहते हैं। तीसरे × ईश्वरवादी यह कहते हैं कि ईश्वरनें जगत्को अपनें भीतरसें वनाया है। वह अपने आप विश्वरूप बन गया है। व्यक्त (Actuality) और अव्यक्त (Potentiality) दोनों प्रकारका विश्व वह स्वयं है। शून्यमेंसे उसने जगत्का निर्मांग नहीं किया, अपि तु आत्मरूप सत्तामेंसे उसका निर्माण किया है। चौथे * ईश्वरवादी कहते हैं कि यह व्यक्त एवं दृश्य जड़ विश्व अव्यक्त एवं अदृश्य जड़ द्रव्यसे ही बना है। अव्यक्त मूलकारण जड़ द्रव्य परमेश्वरका शरीर है। परमेश्वरसें वह अलग नहीं है। उसके साथ वह नित्य संयुक्त है। परमेश्वरहीके स्थानमें वह है। परमेश्वर ही उस मूल जड़ द्रव्यका नित्य आश्रय है। यह दृश्य एवं अदृश्य विश्व परमेश्वरका शरीर है और उस शरीरका प्राण, जीव किंवा आत्मा ही परमेश्वर है। उसका यह संवंध है कि विश्व देह है और वह देही। पाँचवें × ईश्वरवादी कहते हैं कि परमेश्वरकी सत्ता ही पूर्ण सत्य है और विश्व एक आभास (illusion) अथवा ऊपरी दिखावा (Appearance) है। सीपमें चाँदीका, रस्सीमें साँपका और मरुभूमिकी धूपमें मृग-जलका जैसे भ्रम होता है, वैसे ही चिन्मय सद्वस्तुपर विश्वका आभास होता है। विश्व एक सपना है। छठे + ईश्वरवादी कहते हैं कि विश्वका अर्थ है परमेश्वरके विचार। गणित-शास्त्रज्ञोंकी जैसी गणित-शास्त्रीय कल्पनायें (Ideas) होती हैं, वैसी ही परमेश्वरकी जो कल्प-

---

× भारतके शैव तत्त्ववेत्ता, उपनिषत्कार और पश्चिमके विश्वात्म-देववादी (Pantheist) स्पिनोझा आदि दार्शनिक।

* रामानुज, नीलकण्ठ इत्यादि भारतीय विशिष्टाद्वैती वेदान्ती।

× आद्य शंकराचार्य इत्यादि मायावादी।

+ आदर्शवादी—प्लेटो, हीगल, बर्क्ले, सर जे० जीन्स आदि।

नायें हैं, उनका व्यवस्थित, सुसगंत एवं सम्पूर्ण संग्रह ही यह जगत् है। इन्हीं तत्त्ववेत्ताओंमेंसे कुछका कहना है कि विश्व परमेश्वरकी वासनामय (Volition) भावनायें हैं। सातवें* ईश्वरवादी कहते हैं कि परमेश्वरीय तत्त्वपर ही जगत्की सत्ता निर्भर है। पर, जगत्का परमेश्वरसे जो सम्बन्ध है, उसका स्वरूप अचिन्त्य एवं गूढ़ (Mystic) है। यद्यपि इस सम्बन्धमें तत्त्ववेत्ताओंमें परस्पर मतभेद दिखाई देता है कि ईश्वर और जगत्का सम्बन्ध किस प्रकारका है, तथापि प्रत्येक भिन्न भिन्न मत अंशतः सत्य ही है। उन मतोंकी तार्किक संगति न भी दिखाई जा सके, तो भी कोई आपत्ति नहीं है। तार्किक विसंगति दिव्य अनुभवमें विलुप्त हो जाती है।

ईश्वरवादी तत्त्ववेत्ताओंके मुख्य सम्प्रदाय यही हैं। उनके अलावा अनेक अवान्तर सम्प्रदाय भी हैं। परन्तु उनका ऊपर बताये गये सात पक्षोंमें-से किसी न किसीमें अन्तर्भाव किया जा सकता है। इन सारे सम्प्रदायोंमें जिस प्रश्नके सम्बन्धमें प्रायः समानता है, वह है—ईश-सत्ताकी चिन्मयता अथवा ज्ञानमयता। यही ईश्वरका विशेष लक्षण है।

ईश्वरके अस्तित्वका प्रश्न

ईश्वर मनुष्योंके साधारण अनुभवका विषय नहीं है। जिस प्रकार मनुष्यको सूर्य, चन्द्र, तारे, बदल, बिजली, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा शब्द, इत्यादिका अनुभव होता है, उस प्रकार ईश्वरका प्रत्यय या अनुभव उसको नहीं होता। भूख, प्यास, सुख, दुःख, राग, द्वेष, संकल्प, विकल्प, अनुभूति, स्मृति, अहंकार, विचार इत्यादि मानसिक वृत्तियोंका जैसा अनुभव हुआ करता है, वैसा भी ईश्वरका नहीं होता। माता, पिता, भाई, पुत्र, कन्या, पत्नी, मित्र, शत्रु इत्यादिसे जैसे मुलाकात

* Mysticism—गौरांगप्रभु इत्यादि।

होती है, वैसे परमेश्वरसे नहीं होती। द्रव्य-गुण आदि क्रियाओंका जैसा अनुभव हमें नित्य हुआ करता है, वैसा भी उसका नहीं होता। भीतरी और बाहरी विषयोंकी जैसी प्रतीति नित्य होती रहती है, वैसी भी उसकी नहीं होती। अति प्राचीन कालसे मनुष्य इस बारेमें विचार करता आ रहा है कि ईश्वर है या नहीं, और है तो कैसा है? पैरके नीचेकी पृथ्वी और सिरके ऊपरके आकाशमण्डलकी ओर देखकर ऋग्वेदके ऋषिको ऐसा प्रतीत हुआ कि यह एक विशाल महल है। उसके सम्बन्धमें उसने यह प्रश्न किया कि किस जंगलके किस पेड़को काट व तराश कर विश्वका यह महान् प्रासाद बनाया गया है? दूसरा ऋषि पूछता है कि ऊँचे आकाशमें बैठकर जो सारी दुनियाको देख सकता है, उसे क्या इस बातका ज्ञान होगा कि यह विश्व कहाँसे आया और किसने इसका निर्माण किया? अत्यन्त प्राचीन कालसे वैदिक ऋषियोंके सामने जो प्रश्न उपस्थित हुआ था, वही जगत्की समस्त संस्कृतियोंके विचारशील मनुष्योंके सामने भी उपस्थित था। ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें सन्देह पैदा होनेका कारण यह है कि उसका अन्य वस्तुओंके समान अनुभव नही होता। अत एव उसकी चर्चा साधक और बाधक दोनोंही पक्षोंसे मनुष्य करता आया है। ईश्वरके परिपूर्ण स्वरूपके सम्बन्धमें ईश्वरके माननेवालोंमें बहुत अधिक मतभेद है और वह अत्यन्त विचित्र भी है। सामान्य लोगोंकी धारणा तत्त्ववेत्ताओंकी धारणासे सर्वथा भिन्न है और उसका साक्षात् करनेवालोंकी और भी भिन्न है। सामान्य लोगोंकी धारणायें भी एक जैसी नहीं हैं। कोई उसको हाथी जैसा, दूसरा शेर जैसा, तीसरा बन्दर जैसा, चौथा मनुष्य जैसा, पाँचवाँ स्त्री जैसा और छठा पुरुष जैसा मानता है। इस प्रकार अगणित प्रकारके देव भिन्न भिन्न मानव-समूहोंने अपनी अपनी कल्पनाके अनुसार मान

रखे और बना रखे हैं। कइयोंके देव उग्र हैं, तो कइयोंके सौम्य हैं। कुछके ब्रह्मचारी, तो कुछके संसारी हैं। संसारी देवोंमेंसे कुछकी एक एक हजार पत्नियाँ हैं, तो कुछ एक-पत्नी-व्रत धर्मका पालन करते हैं। कुछ लोग एक ही देव मानते हैं, तो कुछ अनेक प्रकारके देव मानते हैं। उन देवोंमें मनुष्यों जैसे ही सारे विकार होते हैं। वे लहरी, छली, कपटी, लोभी, क्रोधी, विषयलोलुप, प्रार्थना सुनकर खुश हो जानेवाले और जी-हुजूरी चाहनेवाले हैं। खुशामदी लोगोंपर वे कृपादृष्टि रखते हैं। दूध, घी, मांस, अंडे, मुर्गियाँ, मिठाइयाँ, फल आदि पदार्थोंपर मनुष्योंकी तरह ही ललचाते हैं। उन्हें वस्त्र, पात्र, अलंकार, शय्या इत्यादि नजराने भी दिये जाते हैं। स्वेच्छाचारी राजा, सुलतान अथवा बादशाहकी तरह ही सामान्य लोगोंका देव है। सामान्य लोग ही क्यों, धर्म-ग्रन्थोंका देव भी ऐसा ही है। प्रार्थना, मन्त्र, पूजा, जप इत्यादिसे वह सन्तुष्ट होता है। उसके प्रति अनन्य भावसे शरण गये विना वह कृपा नहीं करता। अनन्य भाव-से ही वह प्रसन्न होता है। ऐसा वह दम्भी या अभिमानी है। वह कहता है कि मुझे किसी अन्यकी भक्ति सहन नहीं है। मेरी ही भक्ति करोगे, तभी तुम्हारी गति होगी। नहीं तो इस संसारमें यातनाओंकी खाईमें पड़े सड़ते रहोगे। उसकी अनन्य भक्ति भी ऐसी आसान नहीं है। इन्द्रियोंका स्वभाव ही उसने कुछ ऐसा बना दिया है कि उनकी दौड़ हमेशा विषय-वासनाकी ओर ही होती है। उन्मत्त हाथीकी तरह उनको संयममें रखना कठिन है। जब तक शरीर है, तब तक कोई कितना ही प्रयत्न करे, कितना ही संयम पाले, ये इन्द्रियाँ बड़ों बड़ोंको भी मौकेपर धोखा दिये बिना नहीं रहतीं। किसीके गलेमें दो मनका भारी पत्थर बाँधकर कोई उसे हिमालयकी यात्रा करनेके लिये बाधित करे, ठीक इसी तरह मनुष्य भी संसारकी यात्रा करनेके लिये देवद्वारा मजबूर किया हुआ है। जिस

परिस्थितिमें मनुष्य पड़ा हुआ है, उसका यही तो अर्थ है। सज्जन लोग दुःखी लोगोंके दुःखको देखकर सदय भावसे स्वयं उनकी सहायताके लिये दौड़े जाते हैं। परमेश्वरकी अवस्था इससे ठीक उलटी है। उसे लगातार पुकारना पड़ता है। उसकी निरन्तर प्रार्थना करनी पड़ती है। फिर भी यह निश्चित नहीं है कि वह प्रसन्न होकर भेंट देगा ही। सीधा-सादा दुर्बल मनुष्य थोड़ी-सी ताकत रहने पर भी दूसरेकी सहायता करनेके लिये सहसा ही तय्यार हो जाता है। दूसरेके घरमें आग लग जाने पर दुर्जनसे दुर्जनके भी मनमें परोपकारकी भावना जाग उठती है। बिलकुल सीधे सादे मनुष्यमें जितनी सज्जनता है, उतनी भी धर्म-ग्रन्थोंमें बताये गये देवमें नहीं है। वह प्रार्थना-उपासना-भक्ति इत्यादि किये बिना मिलता ही नहीं।

यह हम संक्षेपमें पहले ही कह आये हैं कि तत्त्ववेत्ताओंके देवका स्वरूप क्या है। यह भी हमने बता दिया है कि मोटे तौरपर वे सात प्रकारके हैं। दिव्य अलौकिक दृष्टिसे उसका साक्षात्कार करनेवालोंमें भी कितना मतभेद है।

सामान्य जनता, तत्त्ववेत्ता और सिद्ध महात्माओंकी देवके सम्बन्धमें कल्पनाएँ भिन्न भिन्न प्रकारकी हैं। सामान्य लोगोंके देवका निर्माण उनके अशिक्षित मनने किया है। वर्षा कैसे होती है? हवाएँ कैसे बहती हैं? सूर्य-चंद्र-तारे कैसे उदय होते और अस्त होते हैं? ग्रहण कैसे होता है? बीमारियाँ क्यों पैदा होती हैं? आँधी, तूफान, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, दरिद्रता, श्रीमन्ती, और व्यापारकी तेजी-मंदी आदि घटनाओंका अर्थ ठीकसे मालूम न होनेसे सामान्य मनुष्य कल्पना करता है कि इन सबका कारण कोई देव है। चारों ओर होनेवाली घटनाओंका असली कार्य-कारण-भाव न जाननेके कारण उनसे डरा हुआ, घबराया हुआ

और आश्चर्यचकित हुआ अज्ञानी मनुष्य उनके मूलमें भी देवकी कल्पना करता है। सीधे सादे कार्य-कारण-भावका अज्ञान अथवा अविद्या ही सामान्य मनुष्यके देवकी जननी है। तत्त्ववेत्ताओंका ईश्वर ऐसी साधारण मूर्खतामेंसे नहीं जन्मा है। उनका ईश्वर बड़े प्रशस्त तार्किक युक्तिवादके आसनपर विराजमान है। विश्वके स्वभाव तथा रचनाके सम्बन्धमें पैदा हुई आशंकाका समाधान करनेके लिये उन्होंने ईश्वरकी कल्पना की है। जगत्‌की जिन बातोंके कारणका कोई पता नहीं चलता और जिनका अर्थ ठीक ठीक समझमें नहीं आता, वहाँ तत्त्ववेत्ताओंका ईश्वर आ बैठता है। चिंतनशील एवं सूक्ष्म विचार करनेवाले मनुष्यकी बुद्धि जहाँ कुंठित हो जाती है, वहाँ उसने परमेश्वरकी कल्पना कर ली है। सारांश यह है कि अज्ञानमेंसे ही ईश्वरकी कल्पनाका जन्म हुआ है। अज्ञेय तथा रहस्यपूर्ण परिस्थितिमें ही ईश्वर निवास करता है। ऐसा कहते हैं कि महात्माओंको दिव्य दृष्टिसे ईश्वरका दर्शन होता है। जिन्हें इस दृष्टिसे उसका दर्शन नहीं हुआ, उन्हें केवल अंध श्रद्धासे यह मान लेना चाहिये कि दिव्य दर्शन हुआ करता है। इस विवरणसे इस बातकी कल्पना की जा सकती है कि ईश्वरके अस्तित्वका प्रश्न कितनी उलझनोंसे भरा हुआ है।

ईश्वरके अस्तित्वके तार्किक प्रमाण और उनकी मीमांसा

तत्त्ववेत्ताओंने ईश्वरको सिद्ध करनेके लिये कुल जमा आठ तार्किक प्रमाण उपस्थित किये हैं। उनमेंसे पहला प्रमाण* विश्वकी व्यवस्था अथवा रचना है (Design)। यह व्यवस्था अथवा रचना किसी अत्यंत कुशल बुद्धिके गर्भमेंसे ही उत्पन्न होनी चाहिये। वह बुद्धिमान् ही ईश्वर है। जगत्‌में सर्वत्र

* रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्।—ब्रह्मसूत्रम्

एक नियम जान पड़ता है। रचना, व्यवस्था तथा सुसंगति वस्तुमात्रका स्वभाव हैं। सूर्य, तारे और ग्रहोंकी गतिके नियम कितने निरपवाद और सूक्ष्म हैं, इसकी साक्षी ज्योतिष शास्त्र देता है। यदि किसी मनुष्यमें ऐसी आशंका उत्पन्न हो कि ग्रहोंकी गतिमें कुछ अनियमितता आ गई है, तो समझना चाहिये कि उसमें ही कुछ विकार पैदा हो गया है। पदार्थविज्ञानमें शक्तिकी स्थिरता अथवा उसमें रूपान्तर होनेका जो नियम (Law of Conservation and transformation of energy) है, वह अणु रेणुसे लेकर सौर परिवार तक और घासके तिनकेसे लेकर विवेकशील मनुष्य तक सबमें समान रूपसे समाया हुआ है। गणितके नियम भी अत्यन्त अबाधित रहते हैं। हमारा यह पक्का विश्वास है कि गणितशास्त्रके सम्बन्धमें की गई कल्पनाओंकी रचना एवं संगति अत्यन्त शुद्ध है। सृष्टिका ज्ञान जितना बढ़ता जाता है, उसी अनुपातमें सृष्टिकी घटनाओंकी शृंखला भी गणितके नियमोंकी तरह प्रकट होती रहती है। विज्ञानका कहना है कि जब तक गणितकी परिभाषामें न कहा जाय, तब तक वस्तुके विचारोंमें जितनी चाहिये, उतनी स्पष्टता पैदा नहीं होती। प्रत्येक वस्तु कार्य-कारण-भावके साँचेमें ढली हुई है। सारा विश्व एक यन्त्रकी भाँति है, इस प्रकारकी रचना, नियम किंवा व्यवस्थाका अस्तित्वमें आना तब तक संभव नहीं है, जब तक कि उसी प्रकारकी योजक बुद्धि न हो। यन्त्र इत्यादिको सुसम्यक् रीतिसे तय्यार करनेके लिये योजक बुद्धिकी आवश्यकता है। वह यदि न हो, तो अव्यवस्था और गड़बड़ी मच सकती है। जगत्में कहीं भी अव्यवस्था एवं गड़बड़ी नहीं है। इससे पता चलता है कि जगत्को किसीने बड़े विचारके साथ बनाया है।

यह युक्तिक्रम दीखनेमें बहुत सुन्दर जान पड़ता है। ज्ञान, बुद्धि

अथवा अनुभूति आदि साधनोंकी आवश्यकता सर्वथा एकदेशीय है। किन्हीं विशेष जीव-पिण्डोंके जीवनमें इन साधनोंकी आवश्यकता रहती है। यह ठीक है कि मनुष्यके समान प्राणीके व्यवहारमें बुद्धिकी आवश्यकता रहती है। परंतु इतने-से आधारपर यह कहना कि विश्वकी समस्त प्रक्रिया तथा स्थिति गति आदिके लिये बुद्धिकी आवश्यकता है, उचित न होगा। मनुष्यके समान जीव-पिण्डोंके भी सारे ही व्यवस्थित व्यापारोंमें बुद्धिकी आवश्यकता नहीं रहती। जीवके शरीरमें अनबूझे न जाने कितने ऐसे व्यापार हैं, जो व्यवस्थासे चलते रहते हैं। भोजनका पचना, नाड़ियोंमें रुधिरका प्रवाह, गर्भपोषण इत्यादि क्रियायें यद्यपि बड़ी उलझनोंसे भरी हैं, तथापि उनकी व्यवस्था तथा नियमबद्धता अवर्णनीय है। उन्नत जीव-जातियोंके किन्हीं विशेष व्यापारोंके लिये ही बुद्धि अथवा मनरूप साधन उत्पन्न हुए हैं। घर बाँधने और कपड़ा बुननेके लिये जैसे बुद्धिकी आवश्यकता है, वैसे ही दिमाग और ज्ञान-तन्तुओंकी भी है। इस लिए यह कहना होगा कि जगत्की सारी घटनाओंके लिये दिमाग और ज्ञान-तन्तुओंकी आवश्यकता है। मस्तिष्क-पिंड और ज्ञान-तन्तुओंके विना बुद्धि अथवा विचार जैसे गुणोंका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। वनस्पति बढ़ती है और अनंत जडद्रव्य जगत्में निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, तो क्या इन सब स्थानोंपर भी मस्तिष्क-पिण्ड या ज्ञान-तन्तु विद्यमान रहते हैं? वहाँ जैसे मस्तिष्क-पिण्डकी और ज्ञानतन्तुओंकी आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार बुद्धि अथवा विचारकी भी आवश्यकता नहीं रहती।

विचारमें कोई गलती हुई या ध्यान इधर-उधर बँट गया, तो अव्यवस्था होकर सारा मामला गड़बड़में पड़ जाता है। यदि विचारमें कोई गलती न हो तथा चित्त सावधान हो, तो गड़बड़ी या अव्यवस्था हो

नहीं सकती। इस कथनका अर्थ जाँचकर देखनेसे यह आसानीसे समझमें आ जायगा कि ईश्वर-सिद्धिके लिये दिया जानेवाला पहला प्रमाण किस प्रकार गलत है। रसोई बिगड़ गई, क्योंकि उधर ध्यान नहीं था, अथवा उसका ज्ञान नहीं था। यहाँ जो बिगाड़ अथवा अव्यवस्था पैदा हुई है, वह वह नहीं है, जिसे विज्ञानकी दृष्टिमें अव्यवस्था कहते हैं। उस गड़बड़ी अथवा अव्यवस्थाका अर्थ है मनुष्यके लिये अनभीष्ट स्थिति। विज्ञानकी दृष्टिसे बिगड़ी हुई रसोईमें तत्त्वतः कुछ भी अव्यवस्था नहीं रहती। कार्य-कारण-भावके अबाधित नियमसे ही रसोई बिगड़ जाती है। वह अव्यवस्था भी एक प्रकारकी व्यवस्था ही है। व्यवस्था अथवा नियमबद्धता जगत्का स्वभाव है। वह कोई ऊपरसे लादा हुआ धर्म नहीं है। वह धर्म यदि वस्तुमें नहीं रहेगा, तो कहना होगा कि वस्तु ही नहीं है।

(२) ईश्वरविषयक दूसरा प्रमाण यह है कि प्रेरणाके लिये प्रेरककी आवश्यकता रहती है। जगत्में, अणु-रेणुमें सब कहीं गति दिखाई देती है। उस गतिको प्रथमतः जिसने प्रचलित किया है, वही ईश्वर है। सारथी जिस प्रकार घोड़ोंको हाँकता है, उसी प्रकार देव मूल द्रव्योंको चालना दिया करता है।

यह प्रमाण भी विचारकी कसौटीपर ठीक उतरनेवाला नहीं है। प्रत्येक गतिको स्वतन्त्र प्रेरककी आवश्यकता नहीं होती। इसके दो कारण हैं। एक कारण तो यह है कि प्रत्येक वस्तुमें स्वयं गति करनेकी शक्ति रहती है और दूसरा कारण यह है कि एक वस्तु दूसरी वस्तुकी गतिके लिये कारण बनती है। अतः स्वतन्त्र प्रेरककी आवश्यकता नहीं है। रेलगाड़ीके डिब्बे जब एकके पीछे एक ढरकते जाते हैं, तब एक डिब्बा दूसरेपर ढरकता है और दूसरा तीसरेपर। जगत्की गतियोंका कार्य-कारण-भाव इसी प्रकारका होता है। कुछ लोग यह कहते हैं कि

जिसने मूल द्रव्योंको प्रथमतः गति दी, वही परमेश्वर है। 'प्रथमतः' यह काल-मर्यादा ही ग़लत है। विश्वके लिये 'आरम्भ' नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। विश्व तो अनादि परम्परासे चलता आया है। वह प्रतिक्षण बदलता है। कभी बदलता नहीं था अथवा तब पूर्ण स्थिरता थी, ऐसी कल्पना तर्ककी दृष्टिसे दूषित है।

(३) उद्देश, संकल्प अथवा हेतु यह तीसरा प्रमाण है। उद्देश (Purpose) के बिना जगत्में कोई भी बात नहीं हो सकती। प्रत्येक बात किसी खास उद्देशसे ही होती है। अतः यह उद्देश जिसके मनमें है वही ईश्वर है। जहाँ पानी न हो, वहाँ वनस्पति उत्पन्न नहीं होती। प्राणी और पानीके सम्बन्धकी योजना भी किसी हेतुसे ही की गई प्रतीत होती है। हृदयके भीतर रुधिरके प्रवाहकी ऐसी ही व्यवस्था है। रक्त शुद्ध होकर शरीरमें फिरे, शरीरके लिये आवश्यक पोषक द्रव्योंका प्रबन्ध करे और विकार उत्पन्न होते ही फिर शुद्ध होनेके लिये रक्त लौट आये, यह व्यवस्था बिना किसी हेतुके सम्भव नहीं है। प्राणियोंको अन्नकी आवश्यकता होनेसे अन्न उत्पन्न होता है। वह अन्न दीख सके, इसलिये प्राणियोंको आँखें मिलीं। आँखें न मिली होतीं, तो अन्नकी खोज करनेमें बाधायें उत्पन्न होतीं तथा प्राणियोंका विनाश ही हो गया होता। अतः ऐसा मानना पड़ता है कि आँखोंकी योजना विशेष हेतुसे हुई है। यह भी कहा जा सकता है कि शरीरके प्रत्येक भागकी रचना भी विशेष हेतुसे हुई है। शरीर-रचनाकी जो बात है, वही विश्व-रचनाकी है।

इस युक्तिका खण्डन बहुत आसानीसे किया जा सकता है। उद्देश अथवा हेतु अंतःकरणका धर्म है। उद्देशका अर्थ है इच्छा। अमुक एक

बात अमुक व्यक्तिके लिये अमुक रीतिसे हो जाय, ऐसी इच्छाका अर्थ ही है उद्देश्य। यदि यह कहा जाय कि ईश्वरको भी इच्छा है, तो इसका मतलब यह हुआ कि ईश्वर भी अतृप्त और अपूर्ण है। तब तो यह मानना होगा कि वह ईश्वर नहीं अनीश्वर है। इच्छा, उस वस्तुकी होती है, जो अपने पास न हो और वह इच्छा तभी पूर्ण होती है, जब वह दूसरी वस्तु मिल जाय। ऐसी अवस्थामें यह कहना होगा कि वह वस्तु जिसकी ईश्वरको इच्छा है, वह उसकी पूरी तरह अधीन नहीं है और उस वस्तुमें कोई ऐसी बात है, जो ईश्वरके पास नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर पूरी तरह समर्थ नहीं है। हमारे मनमें अन्न या भोगकी इच्छा होती है। इसका अर्थ यह है कि अपने पास अन्न तथा भोगका पहले अभाव रहता है और वह अभाव अन्न तथा भोग्य वस्तुसे दूर किया जाता है। अन्न तथा भोग्य पदार्थ हमसे भिन्न हैं और जो शक्ति अपने भीतर नहीं है, वह उनमें है। अत एव हमारे मनमें अन्न और भोग्य पदार्थकी वासना रहा करती है। ईश्वरमें भी यदि इच्छा है, तो यह मानना पड़ेगा कि वह अंशतः असमर्थ है। यदि उसमें इच्छा नहीं है, तो कहना चाहिये कि उसमें संकल्प, उद्देश अथवा हेतु भी नहीं है।

ऐसा कहनेका कोई कारण नहीं है कि शरीर और जगत्में जो व्यवस्था एवं संगति है, उसके मूलमें संकल्प ही है। यह हम मान लेते हैं कि प्राणियों एवं मनुष्योंके जीवनमें एक प्रकारकी एकदेशी व्यवस्था और सुसंगतिके लिये संकल्प कारण है, परन्तु इससे इतना ही दिखाया जा सकता है कि विश्व-रचनामें कार्य-कारण-भाव विद्यमान है।

व्यवस्थासे अभिप्राय है, अभीष्ट स्थिति। अभीष्टता या अभिलाषा मनुष्यकी आवश्यकतापर निर्भर है। जगत्की रचना मनुष्य तथा

प्राणियोंके लिये अभीष्ट है, ऐसा बिलकुल नहीं कहा जा सकता। भूगर्भ एवं भूस्तरों और जीव-जातियोंके जीवनोंका इतिहास देखें, तो यह अच्छी तरह समझमें आ जाता है कि अनन्त जीव-जातियोंको इस जगत्के संग्राममें नष्ट होना पड़ता है। अनन्त आपत्तियों और घोर यातनाओंकी ज्वालाओंमें भस्म होना पड़ता है। जीव-जातियोंके संहारका अनुपात उनके जीवित रहनेके अनुपातकी अपेक्षा अनन्त गुना अधिक है। विश्वकी परस्परविरोधी शक्तियोंकी रस्साकसीमें जैसे-तैसे टिकाव रखकर ही जीव-जाति रह रही है। व्यवस्था और संगतिका अर्थ उसके लिये क्या है? अत एव प्राचीन तत्त्ववेत्ता संसारको असार और दुःखका बाजार कहते हैं। स्वर्ग और मोक्ष यदि होगा, तो वह कल्पनामें ही है। दुःखोंके सागरमें सुखोंका अस्तित्व कितना है? मनुष्य प्रतिरोध करता करता कहीं धुँधलेसे दूर दीखनेवाले प्रगतिके क्षितिजको अभी हालमें ही देखने लगा है। ऐसी अस्पष्ट-सी आशा उसके भीतर उत्पन्न हो रही है कि इस जीवनको सुन्दर एवं मनोहर बनाया जा सकता है। अव्यवस्थासे व्यवस्थाकी ओर एवं विसंगतिसे सुसंगतिकी ओर वह जा रहा है उसमें भी वह हजारों बार अपनी राहसे भटक जाता है और बहुत ही कम सरल मार्गपर निर्विघ्न चल पाता है। उसका यह मार्ग अनेक घुमावों, बाधाओं और घने जंगलोंमेंसे होकर जाता है। फिर भी निराशाका कोई कारण नहीं है। मनुष्य बराबर और निरन्तर प्रगतिकी ओर अग्रसर हो रहा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जगत्में कोई व्यवस्था और संगति है। जगत्में जो व्यवस्था और संगति है, वह तार्किक किंवा शास्त्रीय कार्य-कारणभाव सरीखी या गणित शास्त्र जैसी है। उसका उद्देश तथा संकल्पसे कोई सम्बन्ध नहीं है। उसे देखकर

उद्देश और संकल्पका अनुमान नहीं किया जा सकता। उद्देश और संकल्पके अभावका ही अनुमान होता है, क्योंकि वह व्यवस्था एवं संगति यान्त्रिक तथा भौतिक है। प्राणियों और वनस्पतियोंके शरीरमें जो योजना है, वह उन्हीं यान्त्रिक एवं भौतिक नियमोंका परिपाक है। उन भौतिक और यान्त्रिक नियमोंके लिये ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है। इतना ही नहीं, वे नियम ही ईश्वरके न होनेको सिद्ध करते हैं।

भूगर्भमें ऐसे सैकड़ों प्राणी मिलते हैं, जिनकी रचना ही उनके विनाशका कारण बन जाती हैं। शरीर-रचना परिस्थितिके लिये पूरी तरह अनुकूल होती, तो भयंकर रोगों और कीटाणुओंके आक्रमणसे उनका शरीर नष्ट न हुआ होता। प्लेग, हैजा, क्षय, कैंसर इत्यादि रोगोंके प्राणघातक आघात सहन करके उत्तीर्ण होनेवाले शरीर कितने थोड़े हैं। शरीरकी रचनाको ईश्वरका संकल्प माननेकी अपेक्षा इसके प्रमाण अधिक हैं कि वह उसके संकल्पका परिणाम नहीं है।

(४) चौथा प्रमाण यह है कि जो कुछ अपनेको दिखता है, इन्द्रियोंको पता चलता है, बुद्धिको मालूम होता है अथवा कल्पनाका विषय बनता है, वह सब देखनेवालेपर निर्भर रहता है। प्रत्येक ज्ञेय वस्तुका अस्तित्व ज्ञाताके अधीन है। ज्ञाता न रहे, तो ज्ञेय कैसे रहेगा? ज्ञाता है अतएव ज्ञेय है। घोड़ा सफेद है,—ऐसा हम कहते हैं। घोड़ेके सब गुण-धर्म हमारे देखनेपर ही अवलंबित हैं। यदि हमारी आँख ही न हो, तो घोड़ेको 'सफेद' कैसे कहा जा सकता है? आँख और स्पर्श इन्द्रिय न रहे, तो घोड़ा ऊँचा है, यह कैसे कहा जा सकता है? हमारी 'इन्द्रियाँ हैं' यह भी हमारे अनुभवसे ही सिद्ध होता है। यदि उनका अनुभव न रहे, तो 'इन्द्रियाँ है' यह कैसे कहा जा सकता है? यही अवस्था समस्त विश्वकी है। हम कहा करते है कि सारा प्राणी-समुदाय

जब सो जाता है, तब भी यह विश्व रहता है। अर्थात् जब हममेंसे कोई भी विश्वका अनुभव नहीं करता, तब भी वह रहता ही है। परंतु 'तब वह रहता है' ऐसा जिस प्रकारके विश्वके बारेमें हम कहते हैं, उसके सारे गुण-धर्म ज्ञाताके अनुभवपर आश्रित हैं। फलतः हममेंसे कोई भी जब उसका अनुभव नहीं लेता, तब उसका अनुभव जिसे है, उसकी प्रतीति किंवा भान जिसे है, ऐसा कोई न कोई उस समय अवश्य होता है। बस, वही ईश्वर है। सारे जीव जिस समय विश्वका अनुभव नहीं लेते, उस समय जो विश्वका अनुभव लेता है और जिसके अनुभवपर विश्व निर्भर रहता है ऐसा जो पुरुष है, वही पुरुषोत्तम एवं परमेश्वर है।

इस युक्तिवादका उत्तर सरल है। पहले तो यही सत्य नहीं है कि कोई वस्तु उस वस्तुके ज्ञानपर आश्रित रहती है। इसके विपरीत यह कहना चाहिये कि ज्ञान वस्तुपर आश्रित है। वह वस्तु सत्य है, जिसे कोई भी न जानता हो और फिर भी वह बनी रहे। वस्तुका अस्तित्व दूसरेकी जानकारीपर आश्रित है, ऐसा कहनेका अर्थ यह हुआ कि वह वस्तु सत्य नहीं है; प्रत्युत केवल भास है। जो वस्तु केवल उसी अवस्थामें रहती है, जब कि उसकी जानकारी हो और जब जानकारी न हो, तब नहीं रहती; तो वह काल्पनिक ही होती है, सत्य नहीं होती। किसी भी सत्य वस्तुके अस्तित्वके लिये जानकारीकी आवश्यकता नहीं रहती। 'जानकारी' तो उस वस्तुके अस्तित्वका प्रमाण है। प्रमाणपर वस्तुका अस्तित्व निर्भर नहीं करता। धुआँ अग्निका प्रमाण है। इससे यह कभी नहीं सिद्ध होता कि धुआँ न रहे, तो अग्निका अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है। मेरे सामने दीखनेवाला पर्वत मेरी जानकारीके कारण अस्तित्वमें नहीं आया। मेरी जानकारी उसका कारण नहीं है। वह पहले रहता है और उसका अनुभव बादमें होता है। वस्तु पहले रहती है और अनुभव पीछे

होता है। अनुभवके कारण वस्तु अस्तित्वमें नहीं आती। सारे विश्वके सम्बन्धमें यही बात है। इस विश्वका अनुभव लेनेवाला कोई न भी रहे तो भी विश्व रहेगा। अतः उसका अनुभव लेनेवाला परमेश्वर न भी रहे, तो भी उसके अस्तित्वको कोई धक्का नहीं पहुँचेगा। जिस समय मैं अपने घरका अनुभव नहीं करता, उस समय मेरे घरका कुछ नहीं बिगड़ता और केवल अनुभवसे उसमें कुछ अन्तर भी नहीं आता। अनुभव वस्तुपर निर्भर रहता है। ज्ञानका वस्तु कारण है। वस्तुका ज्ञान कारण नहीं है।

(५) कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा अनुमान किये बिना नहीं रहा जाता कि जगतमें जो मोहक, मंगलमय, अमर्याद एवं विस्मयजनक सौन्दर्य निरन्तर प्रतीत होता रहता है, उसके मूलमें विशाल, विशुद्ध, रुचिर, अगाध एवं अनन्त-कला-विलासिनी प्रतिभाका रहना आवश्यक है। ऐसा विश्वास होता है कि जगत्के महान् कवि, चित्रविशारद, शिल्पचतुर एवं विविधकलाकुशल मानवोंकी कल्पना-शक्तिको एवं प्रतिभाको स्फूर्ति देनेवाली विश्वव्यापिनी दैवी प्रतिभा अवश्य है। इस प्रतिभाने जो कुछ निर्माण किया है, उसका यदि कोई मानव अत्यंत अल्प मात्रामें भी अनुकरण करे, तो वह सारी मानव-जातिमें कला-कुशल होनेकी श्रेष्ठ पदवीको प्राप्त हो जाता है। उस दैवी प्रतिभाके चैतन्य-सागरके एक छोटेसे भी कणका प्रसाद किसी मानवको मिल जाता है, तो वह मानव-जातिमें संसारव्यापी कीर्तिको प्राप्त कर लेता है। हम जिसे कुरूप, निन्द्य, त्याज्य, घृणास्पद अथवा अमंगल मानते हैं, जिसके कारण हमें विषाद एवं दुःखका ही अनुभव होता है और जिसको देखकर भारी डर पैदा होता है, वह भी उस चमत्कारपूर्ण परिस्थितिका ही अंश है, ऐसा साहित्यिक प्रतिभाको दिखाई देता है। जीवन अथवा जगत्का ऐसा कौन-सा हीन, कुरूप एवं विरूप भाग है, जिसे

कलाने रमणीय नहीं बनाया है? संसार अथवा विश्वका ऐसा कौन-सा प्रसंग है, जो सरस कलाके लिये विसंगत है? कहते हैं कि तत्त्ववेत्ता ज्ञेय और अज्ञेय सभी प्रकारकी वस्तुओंका चिन्तन करते हैं। ऐसा भी कहते कि तत्त्वज्ञान सर्वव्यापी है। परंतु तत्त्वज्ञान जिन जिन तत्त्वोंका मनन करता है, वे सब कलात्मक बुद्धिके गोचर होते हैं। कलात्मक बुद्धिका विषय अखिल विश्व है। अखिल विश्व यदि कलामय है, तो यह अलौकिक कलामय विश्वकी कृति जिसकी प्रतिभाका विलास है, वह कोई न कोई अवश्य होगा। वह जो भी कोई है, सचमुच अचिन्त्य एवं अप्रमेय अनन्त कल्याण गुणोंका आधार है।

यह सौन्दर्यमूलक ईश्वर-विषयक अनुमान भी ठीक नहीं है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः यह विश्व केवल सौन्दर्य रूप है। यदि वह वैसा है, तो भी उस सौन्दर्यकी रचना किसी विचारमय एवं प्रतिभा-सम्पन्न शक्तिने की है, ऐसा माननेका भी कोई आधार नहीं है। विश्वमें सुन्दरता है या कुरूपता, यह तो उस मानव-प्राणीके अनुभवपर निर्भर है, जो विश्वका भोग भोगता है। मनुष्यको दोनों ही प्रकारका अनुभव प्राप्त होता है। अनेक सज्जनोंका कहना है कि यह विश्व दुःखोंसे भरा हुआ है। संसारको असार और दुःखोंकी खान बतानेवाले तत्त्ववेत्ताओंकी और कवियोंकी कमी नहीं है। बुद्ध, कपिल, कणाद, व्यास इत्यादि महान् ज्ञानी, अनुभवी और मानव-जातिका पथ प्रदर्शन करनेवाले यही कह गये हैं। इसके विपरीत भी कुछने प्रतिपादन किया है। इन दोनों पक्षोंके कथनका सार यह है कि जगत्के सौन्दर्य तथा आनन्दका अथवा कुरूपता तथा दुःखका अनुभव परिस्थितिपर तथा प्रयत्नोंपर निर्भर है। जब मनुष्यकी सामाजिक परिस्थिति बिगड़ी रहती है और जब समाजमें विषमता तथा अनिश्चित शासनका बाजार गरम

रहता है, तब जीवन एवं विश्व कुरूप, दुःखमय तथा बन्धनरूप प्रतीत होता है और तब उससे छुटकारा पाना ही परम पुरुषार्थ प्रतीत होता है। जब समाजमें व्यवस्था और सबकी प्रगति तथा योग-क्षेमकी संभावना उत्पन्न होती है, तब संसारमें कुछ सार और रसमयता प्रतीत होने लगती है। जीवनमें अभ्युदय तथा मृत्युके बाद निःश्रेयस्की आशा एवं अपेक्षा उत्पन्न होती है। इसीलिये सौन्दर्यका अनुभव परिस्थितिकी अपेक्षा रखता है। अतः निरपेक्षभावसे यह नहीं कहा जा सकता कि विश्व वस्तुतः सौन्दर्यमय ही है। मनुष्यकी परिस्थितियोंके विचारको यदि हम एक ओर रख दें, तो यही सिद्ध होगा कि विश्व सुंदर भी नहीं और कुरूप भी नहीं। मनुष्योंकी भावनात्मक अनुभूति तथा विश्वकी परिस्थिति इन दो वस्तुओंकी तुलनामें सौन्दर्य अथवा कुरूपताका निर्णय किया जा सकता है। सौन्दर्य न तो केवल वस्तुनिष्ठ है और न केवल आत्मनिष्ठ ही। भोक्ता आत्मा एवं भोग्य विश्व, इनकी परस्पर होनेवाली क्रिया-प्रतिक्रियामें ही सौन्दर्यकी अथवा असौन्दर्यकी सिद्धि होती है।

मान लीजिए कि विश्व सुन्दर ही है। तो भी यह मान लेनेसे यह अनुमान तो नहीं निकल सकता कि सौन्दर्यका निर्माण करनेवाली एक प्रतिभा शक्ति अवश्य होनी चाहिये। सौन्दर्य तो विश्वका स्वभाव है वह स्वभाव शाश्वत है। यह माननेका कोई कारण नहीं है कि उसका किसीने निर्माण किया है। वैसा यदि मान लें, तो इसका अर्थ यह हुआ कि उस सौन्दर्यकी उत्पत्तिसे पूर्व विश्व कुरूप था। इसके लिये प्रमाण क्या है कि विश्व कुरूप ही था? दूसरी बात यह है कि जिसने सुन्दर विश्व अथवा विश्व-सौन्दर्यका निर्माण किया, वह स्वयं सुन्दर है या नहीं? यदि वह सुन्दर है, जैसा कि सभी ईश्वरभक्त कहते हैं, तो उसका यह अनन्त सौन्दर्य किसने निर्माण किया है? ईश्वरका सौन्दर्य

जिसने निर्माण किया, उसका सौन्दर्य किसने निर्माण किया ? इस प्रकारके प्रश्नोंकी श्रृंखला कभी भी समाप्त न होगी। अतः कहना होगा कि ईश्वरका सौन्दर्य स्वाभाविक है और उसका किसीने निर्माण नहीं किया है। ऐसी अवस्थामें यदि हम कहें कि विश्वका सौन्दर्य भी स्वाभाविक है और उसका भी किसीने निर्माण नहीं किया है, तो इस तर्कमें आँच कहाँ आती है ? विश्वकर्त्ता ईश्वर सुन्दर नहीं है, ऐसा कहें तो फिर वस्तुमात्र सुन्दर है, ऐसा जो मुख्य सिद्धान्त है वह मिथ्या हो जायगा। उस सिद्धान्तके मिथ्या सिद्ध हो जानेपर यदि कहा जाय कि कुछ वस्तुएँ सुन्दर और कुछ असुन्दर हैं, तो यह भी कहना होगा कि असुन्दर वस्तुएँ ईश्वरकी बनाई हुई नहीं हैं। सारी वस्तुएँ ईश्वरने निर्माण की हैं;—ऐसा यदि कहें, तो ईश्वर भी एक वस्तु होनेके नाते किसी अन्यद्वारा निर्मित हुआ मानना पड़ेगा। वैसा मानें, तो निर्माताओंकी उस परम्पराका कहीं भी और कभी अन्त नहीं होगा। उसकी अपेक्षा यह मानना ही अधिक युक्तिसंगत होगा कि विश्वका अथवा वस्तुमात्रका निर्माण किसीने भी नहीं किया है।

(६) सब मनुष्योंके लिये अथवा सब जीवोंके लिये नीति-अनीति, सत्कर्म-दुष्कर्म और शुभ-अशुभ आचरणोंके नियम बनानेवाला और उसके अनुसार फैसला करनेवाला, सबसे बड़ा, प्रमादरहित, न्यायकर्ता और न्यायाधीश इस जगत्में अवश्य है। वह यदि न हो तो सारे नैतिक आचार और शुभाशुभ अथवा मंगल-अमंगल आदिका विचार निराधार सिद्ध हो जाता है। मनुष्य तो प्रमादशील और पक्षपाती है। यदि नीतिका कोई प्रमादरहित एवं पक्षपातरहित व्यापक अधिष्ठान न मानें, तो नीतिकी व्यवस्थाके अभावमें इस जगत्में स्वेच्छाचारिता और अपराध बढ़ जायँगे, जिससे संसार नष्ट हो जायगा। विवेक, विचार एवं साधुत्व-

का निर्णय करनेवाला प्रमाण न मिलनेसे इस विश्वमें दुष्टता और दुर्जननाकी ही क्रूर, कठोर एवं भयानक सत्ता निर्बाध बनी रहेगी। परन्तु मनुष्य प्राणी यह समझकर काम करते हैं कि इस जगत्में साधुत्वका स्थान सबसे ऊपर है। मनुष्यके हृदयको कहींसे यह आश्वासन मिला हुआ है कि अन्तमें सत्यकी ही जीत होती है और असत्यकी हार होती है। यही कारण है कि बड़ेसे बड़े प्रलोभनोंको लात मारकर दुःखों और आपत्तियोंकी भीषण ज्वालमें अनन्त वेदना और मृत्युके अनन्त संहारोंमें भी हिमालयकी भाँति अचल धैर्य और आकाशकी भाँति गंभीर हृदयवाले अनेक सज्जन अपना संघर्ष जारी रखते हैं। यह धैर्य और गंभीरता नैतिक श्रद्धासे प्राप्त होती है। उस अमर श्रद्धाका जो उद्गम स्थान है, वही अमृतरूप मंगलमूर्ति प्रभु है। किये हुए सत्कर्मोंका फल कभी न कभी प्राप्त करानेवाला एवं दुष्कर्मोंका दण्ड देनेवाला इस विश्वमें कोई न कोई अवश्य है। इसी तरह इस बातका निश्चय करनेवाली कोई न कोई चेतन शक्ति अवश्य है कि यह अच्छा काम है,—यह बुरा। अन्यथा मनुष्यको यह कैसे पता चले कि उसे पुण्य क्यों करना चाहिये और पाप क्यों नहीं? इसी प्रकार मनुष्यको यह निश्चित रूपसे कौन बतायेगा कि यह काम सत्कर्म है और यह दुष्कर्म। प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें सत्कर्मका अंगीकार और असत्कर्मका त्याग करनेकी एक निश्चयात्मक भावना निरन्तर बनी रहती है। यह निश्चयात्मक भावना मनुष्यके अधीन नहीं है। इस भावनाका बन्धन मनुष्यने स्वयं अपने लिये तय्यार नहीं किया है। वह बन्धन उसपर उसकी बुद्धि एवं अन्तःकरणपर किसीने सदाके लिये डाल दिया है। जिसने यह काम किया है, उसीको परमेश्वर कहते हैं। वही सबका बन्धु है। सारे नैतिक सम्बन्ध जिसने निर्माण किये हैं, ऐसा वह सबका सबसे निकटका

सम्बन्धी है। इसी लिये वह सबका पिता, माता तथा मित्र है। वह सबकी आत्माको भीतरसे नैतिक प्रेरणा देता है; अतएव वही परमात्मा है।

यह नीतिमूलक ईश्वरसम्बन्धी अनुमान भी मिथ्या है। इसमें ईश्वरको दो बातोंके लिये माना गया है। एक नीतिके नियम निर्धारित करनेके लिये और दूसरे नीतिका फल देनेके लिये। इन दोनों बातोंसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती। नीतिके नियमोंका निर्धारण तो मनुष्यने ही किया है। व्यवहारको ठीकसे चलानेके लिये नीति अथवा सदाचारके नियम बनाये गये हैं। नीतिके नियमोंके अभावमें मनुष्योंका वैयक्तिक तथा सार्वजनिक जीवन पूर्णतः असफल, निष्फळ और अनिष्टकर हो जाता है। ऐसी प्रतीति मनुष्यको निरन्तर होती रहती है। अच्छा प्रकाश, स्वच्छ हवा, निर्मल पानी एवं पौष्टिक अन्नकी मनुष्योंको जैसी आवश्यकता रहती है और तत्संबंधी नियमोंको उसे जैसे जानना पड़ता है, वैसे ही सदाचरण और दुराचरणमें विवेक करना भी मनुष्यके लिये आवश्यक है। भौतिक वस्तुओंका कार्य-कारण-भाव जैसे अनुभव और बुद्धिद्वारा निश्चित किया जाता है, उसी प्रकार आचरणका कार्य-कारण-भाव भी मनुष्य बड़े प्रयत्नके बाद अनुभव और बुद्धिकी सहायतासे निश्चित कर सकता है। विद्रोह और हिंसाका दुष्परिणाम इसी जगत्में अनुभव होता है। यह प्रतिदिनका अनुभव है कि परस्पर सहकार्य, सहानुभूति, एवं प्रेमकी सहायतासे जीवनमें श्रेयकी प्राप्ति होती है। यह बतानेके लिये ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है कि सारे व्यवहारोंमें यदि असत्यका बोलबाला हो जाय, तो सत्य व्यवहार मिट्टीमें मिल जायगा। यह बतानेके लिये कि सभीके जीवन और धनकी सुरक्षा नीतिपर ही आधारित है—दिव्य दृष्टि, दिव्य श्रद्धा किंवा दिव्य प्रेरणाकी क्या आवश्यकता है?

इसपर यह आक्षेप किया जा सकता है कि नीति और अनीतिविषयक श्रद्धामें ऐसा विचार कई बार नहीं रहता। आँखोंसे जैसे यह मालूम हो जाता है, कि फूल सुन्दर है, वैसे ही निर्विकार मनसे सत् और असत् आचरण भी मालूम हो जाता है। उसके लिये वैयक्तिक एवं सार्वजनिक आचरणके कार्य-कारण-भावके विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसका उत्तर यही है कि बचपनसे प्राप्त शिक्षण और निरन्तर जारी रहनेवाले व्यवहार तथा अनुभवके संस्कारसे यह सदसद्विवेक किया जा सकता है। नैतिक श्रद्धा मनुष्यको बड़े प्रयत्नसे प्राप्त हुई है। नीति और अनीति केवल कोरे मनसे समझमें आनेवाली वस्तु नहीं है। कोरा निर्विकार मन भी इस दुनियामें दुर्लभ है। यही नहीं, किसीका भी मन वैसा निर्मल नहीं रहता। अपने बड़े बूढ़ोंके परिवार और सामाजिक व्यवहार, सामाजिक संस्कार एवं धार्मिक आचारसे घिरे हुए वातावरणमें मनुष्य जन्म लेता है। उनसे वह विशेष भाषा, विशेष विचार तथा विशेष अभिरुचि आदिके साथ साथ सब तरहके चाल-चलनके नियम भी सीखता है। नैतिक आचार भी वह इसी तरह सीखता है। नैतिक नियमोंका पालन समाजका प्रत्येक व्यक्ति मनसे करे और कोई उसका उल्लंघन न करे,—इसी विचारसे सामाजिक तथा धार्मिक संस्थायें निरंतर यह भावना बनानेका प्रयत्न करती रहती हैं कि उन नैतिक नियमोंके मूलमें ईश्वर अथवा अलौकिक नियन्त्रण शक्ति है। इन्हीं प्रयत्नोंके कारण नैतिक श्रद्धाकी जड़ें गहरी होती रहती हैं। यह श्रद्धा इतनी दृढ़ होती है कि मनुष्यको यह तक समझमें नहीं आता कि वह श्रद्धा मूलभूत नहीं है और न वह जन्मसे प्राप्त होती है, प्रत्युत उसका भी कोई कारण एवं इतिहास है। अपनेको ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सत् और असतको समझनेके लिये केवल निर्विकार अंतःकरणकी

ही साक्षी पर्याप्त है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। नीतिका स्वरूप और उसके नियम सब जगह एकसे और नित्य नहीं है। नैतिक श्रद्धाका स्वरूप सबके अंतःकरणमें समान नहीं रहता। भिन्न भिन्न सामाजिक परिस्थितियोंमें नैतिक श्रद्धाका स्वरूप भी बदलता रहता है। नैतिक आचारोंका बड़ा लम्बा चौड़ा इतिहास है। नैतिक कल्पना सब समयोंमें, सब तरहके समाजोंमें एक-सी नहीं रहती। सारे मानवोंकी नीति-सम्बन्धी कल्पनाएँ सब समयोंमें, सब देशोंमें, एक-सी ही रही होतीं, तो यह कहा जा सकता था कि वे ईश्वरप्रदत्त हैं और मनुष्यनिर्मित नहीं हैं। यज्ञमें पशुओंकी हिंसा करना वैदिक आर्योंको धर्म प्रतीत होता था, किंतु वही चार्वाक, जैन और बौद्धोंको अधर्म और अनीतिमूलक प्रतीत हुआ। सनातन धर्मी लोगोंको अंत्यजोंका स्पर्श अत्यन्त पातक एवं अमंगल प्रतीत होता है, किन्तु आजकलके सुधारकोंको अस्पृश्यता ही अनीतिरूप एवं पाप प्रतीत होती है। कोई समय था, जब यज्ञोंमें मनुष्यकी बलि देनेकी प्रथा पवित्र मानी जाती थी। हिटलरके अनुयायी जर्मन लोग यहूदी, स्लाव, हिंदू, चीनी और मुसल्मान इत्यादि जर्मन-भिन्न जातियोंको हमेशाके लिये गुलामीमें रखना और जर्मनीके हितके लिये जर्मन-भिन्न मानव-जातिकी लूट खसोट करना और उनके साथ छल-कपट करना सद्‌गुण समझते थे। परन्तु सोवियत समाजवादी इसीको दुर्गुण समझते हैं और सारे मानवोंको एवं मानव-जातियोंको समान स्वरूपकी स्वतंत्रता प्राप्त कराना सद्‌गुण समझते हैं। हिटलरके लोगोंको जो कार्य ईश्वरप्रेरित प्रतीत होता था, वही मार्क्स एवं लैनिनके अनुयायियोंको अधर्म, गर्हित एवं राक्षसी प्रतीत होता था। ईश्वरद्वारा ही यदि नीति-अनीतिका निर्माण हुआ होता, तो नैतिक श्रद्धामें इस प्रकारका अन्तर क्यों होता? यदि वही नैतिक श्रद्धाका प्रेरक होता,

तो भिन्न भिन्न देश-काल तथा परिस्थिति और सामाजिक स्थितिमें नीति और अनीति भिन्न भिन्न नहीं होतीं।

अब हम इसे श्रद्धाके सम्बन्धमें विचार करेंगे कि नीतिका फल आज नहीं, तो कभी न कभी व्यक्तिको मिलेगा ही। यह श्रद्धा सारी मानव-जातिमें समान-रूपमें नहीं पाई जाती। अनेक जंगली जातियोंके धर्मोंमें पारलौकिक जीवनकी कल्पना नहीं है। इस लिये इस जन्ममें किये गये कर्मका फल इस जन्ममें नहीं, तो अगले जन्ममें अवश्य मिलेगा,—ऐसी कोई श्रद्धा या विश्वास उन लोगोंमें नहीं है। जिन लोगोंमें पारलौकिक जीवनकी कल्पना होती भी है, उनमें भी यह श्रद्धा एक-सी नहीं होती। ईसाई और मुसलमान अनेक जन्मोंकी परम्परा या शृंखला नहीं मानते। उनके धर्मके अनुसार मनुष्य-जन्मके बाद अन्तिम दिन आयेगा और उसी दिन बुलावा आयेगा। तब तक जीव उसी प्रकार मुग्ध अवस्थामें पड़े रहते हैं और फैसलेके दिन किये हुए कर्मोंके अनुसार स्वर्ग अथवा नरकमें भेज दिये जाते हैं। हिंदू धर्मके अनुसार जीव अनादि कालसे विविध योनियोंमें गुजरते हुए स्वर्ग या नरककी यात्रा करते रहते हैं। जब कभी भाग्यवश ब्रह्मज्ञान हो जाता है, तब मुक्त हो जाते हैं। ईसाई धर्मके अनुसार और इस्लामके अनुसार जिन व्यक्तियोंको जो जन्मसिद्ध परिस्थिति प्राप्त होती है, वह उनके अपने किये कर्मोंका फल नहीं है। अर्थात् अपनी जन्मसिद्ध परिस्थितिके लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं। हिंदू धर्मके अनुसार सभी परिस्थितियाँ कर्मोंका फल होती हैं। गत दो शताब्दियोंका मानव-इतिहास यदि हम देखें, तो पता चलेगा कि जो बड़े बड़े प्रयत्न असंख्य मानवोंने किये हैं, उनके मूलमें यह भावना बिलकुल नहीं थी कि "उनके किये कर्मोंका फल उन्हें कभी न कभी अवश्य मिलेगा।" राष्ट्रीय

स्वातंत्र्य, प्रजातन्त्र और समाजवाद आदि ध्येयोंकी पूर्तिके लिये कितने व्यक्तियोंने कितनी अपरिमित आपत्तियाँ सहन की हैं और आज भी सहन कर रहे हैं। इसका पारलौकिक श्रद्धा अथवा नैतिक श्रद्धासे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। असंख्य व्यक्ति पिछले दो सौ बरसोंसे इन ध्येयोंकी प्राप्तिके लिये दिन-रात प्रयत्न करते रहे हैं। उनमें ऐसी श्रद्धा नहीं रहती कि उन सत्कर्मोंका फल उन्हें खुदको ही प्राप्त होगा। नीतिकी जीत और अनीतिकी हार अनिवार्यतः अवश्य होती है,—ऐसा कार्य-कारण-भाव बहुतोंके विचारमें नहीं होता, तो भी वे लोग नीतिपूर्वक व्यवहार करते हैं और अनीतिका परित्याग करते हैं। निर्धारित सत्कर्मोंके विजयकी और असत्कर्मोंके पराजयकी उत्कट इच्छाका रहना आवश्यक होता है। तात्पर्य यह है कि, यह सारे मनुष्योंका दृढ़ विश्वास है कि व्यक्तिको अपने कर्मोंका फल मिलता है। ऐसी अवस्थामें यह युक्तिवाद विवेचक बुद्धिके सामने टिक नहीं सकता कि कर्मफल देनेके लिये ईश्वरका अस्तित्व आवश्यक है।

कुछ लोगोंकी यह मान्यता है कि ईश्वर आत्माके अमरत्व और कर्म-फल-सिद्धांत आदि कल्पनाओंका मानव-जीवनमें कुछ महत्त्व है। भले ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वगुणसम्पन्न, परमकल्याणमय ईश्वर बुद्धिसे सिद्ध हो या न हो, आत्माका अमरत्व भी तर्क एवं बुद्धिको भले ही स्वीकार हो या न हो और यह बात भी भले ही प्रमाणोंसे प्रमाणित हो या न हो कि व्यक्तिको कभी न कभी अपने कर्मोंका फल भोगना ही पड़ता है; फिर भी इनकी मान्यताके बिना मनुष्य संसारमें समाजको बनाये रखनेवाले कर्म या सत्कर्म धैर्यके साथ कर नहीं सकता। इसलिये इन मान्यताओंको स्वीकार करना ही चाहिये। मानव-बुद्धिसे परेकी इन मान्यताओंकी वास्तविकताकी कल्पनासे ही मनुष्यको अपने कर्म और

जीवनकी सार्थकता अनुभव होती है। यही इन कल्पनाओंका मूल्य है। ईश्वर, स्वर्ग, नरक, आत्मा, पारलौकिक जीवन इत्यादि कल्पनाओंकी समाजकी धारण तथा व्यवस्थाके लिये ही आवश्यकता है।

इस कल्पनामें अनेक दोष हैं। पहला दोष यह है कि ईश्वरपर श्रद्धा और उसके सम्बन्धमें अमरत्वकी भावना सरीखी अलौकिक एवं पारलौकिक महत्त्वकी कल्पनाओंकी अपेक्षा सर्वथा भिन्न महत्त्वकी अर्थात् केवल ऐहिक महत्त्व रखनेवाली कल्पनाओंसे भी इतिहासमें बड़ी बड़ी घटनाएँ घटीं और घट रही हैं। कला, विद्या, त्याग, शौर्य, पराक्रम इत्यादि मानवी गुणोंको पराकाष्ठा तक पहुँचानेका सामर्थ्य बुद्धिगम्य ऐहिक कल्पनाओंमें है। फ्रेंच राज्यक्रान्ति जिन लोगोंने की थी, उन्हें स्वतन्त्रता, प्रजातंत्र, एवं बंधुत्व आदि सामाजिक भावनाओंसे ही तो प्रेरणा मिली थी। अमेरिकाके स्वतंत्रता-युद्धमें प्रजातंत्र एवं मानवके मूलभूत अधिकारोंकी स्थापनाके ध्येय से ही वहाँके लोग लड़े थे। स्पेनके असफल गृह-युद्धमें प्रजातंत्र मानव-अधिकार, आर्थिक गुलामीका नाश और समाजवाद आदि ध्येयोंसे प्रेरित होकर ही तो वीरोंने युद्धभूमिमें अपने प्राण दे दिये थे और उसको अन्तर्राष्ट्रीय रूप भी प्राप्त हो गया था। यहाँ भारतमें फाँसीके तख्तेपर झूल जानेवाले भगतसिंह सरीखे लोग राष्ट्रीय स्वतंत्रताके ध्येयसे प्रेरित होकर ही तो अपना उत्सर्ग कर गये। जहाँ केवल जीवन और मरण-का ही प्रश्न होता है, वहाँ अमरत्व और ईश्वरसम्बन्धी भावनाओंकी गन्ध तक न होते हुए भी साधारणसे साधारण व्यक्ति महान्से महान् कार्य कर जाते हैं। सामाजिक मनोविज्ञानकी यह साधारण-सी बात है। ईश्वर तथा अमरत्वपर जिन्हें रत्तीभर भी विश्वास नहीं है, ऐसे बड़े बड़े वैज्ञानिक लोग भौतिक शास्त्रकी छान-बीनमें दिन-रात कठोर परिश्रम

करते रहते हैं। अन्वेषक लोग केवल ज्ञानकी पिपासासे, व्यवसायकी प्रीतिसे, आजीविकाका साधन मानकर अथवा समाजकी भलाईसे प्रेरित होकर अपनी जानको खतरेमें डालकर भी साहसपूर्ण कार्य किया करते हैं। माँ बच्चेके लिये जो कष्ट सहन करती है, वह स्वर्ग या ईश्वरकी प्राप्तिके लिये नहीं होता। उसके प्राण बच्चेके प्राणोंमें मिल-से जाते हैं और उसकी भावना बच्चेके हितको ही परमार्थ मानने लग जाती है। बहुत कम ऐसे सामाजिक प्राणी हैं, जिन्हें अपनी व्यक्तिगत चिन्ता रहती है। सामाजिक क्रियाको व्यापक अहंभावसे ही प्रेरणा मिला करती है। समाजमें उत्पन्न हुए मानवका अहंभाव समाजके इतिहास अथवा युगके अनुसार संकुचित या व्यापक हुआ करता है। उसकी व्यापकताकी सीमा विशेष ऐतिहासिक घटनाचक्रपर निर्भर रहती है। परिवारके हितके लिए निरन्तर श्रम करनेवाले लोग समाजके आरम्भ-कालसे विद्यमान हैं। उन्हें यदि ईश्वर या अमरत्वकी प्रतीति हो जाय, तो भी वे परिवारके लिये वैसा ही परिश्रम करेंगे। अपने समाज व जातिके नियम, कानून तथा मर्यादाका बिना किसी पारलौकिक भयके अंतःकरणके विश्वासके साथ पालन करनेकी प्रवृत्ति जंगली लोगोंमें भी पाई जाती है। धार्मिक ध्येयके लिये यह करनेवाले व्यक्तिको अपनी पवित्रता तथा पारलौकिक जीवनकी बहुत चिन्ता रहती है और उसीके लिये उसकी नीतिसम्बन्धी कल्पना या धारणा होती है। उसकी यह भावना अत्यन्त स्वार्थपूर्ण होती है। यह स्वार्थ एकदम विकृत रहता है, क्योंकि उसका आधार केवल भ्रमपूर्ण कल्पनाएँ ही होती हैं। समाजकी प्रगतिशील धारणा, समाज तथा मानवताका उत्कर्ष तथा राष्ट्रवाद इत्यादि ऐहिक ध्येय, जिन्हें साधारण व्यक्तिकी बुद्धि भी स्वीकार करती है, समाज-पर ही निर्भर है, व्यक्तिपर नहीं। इनमें व्यक्तिगत सिद्धि गौण हो जाती

है। इनमें वह व्यापक ध्येय समा जाता है, जिसमें न केवल वर्तमान, किन्तु भावी सन्ततिका हित, समाजकी स्थिरता और उसका कल्याण समाया रहता है। व्यक्तिके काल्पनिक पारलौकिक ध्येयको महत्त्व देनेवाले अध्यात्मवादकी अपेक्षा ऐहिक तथा सामाजिक कल्याणको महत्त्व देनेवाला भौतिकवाद या विपक्षियोंके शब्दोंमें नास्तिकवाद सत्य एवं श्रेष्ठ है। इस भौतिकवादमें समाजके सब व्यक्तियोंके कल्याणकी भावना समाई रहती है। धार्मिक कल्पनाओंमें दूसरा दोष यह है कि विशेष देश, काल तथा मर्यादामें महत्त्व पानेवाले विधि-निषेधोंको, भावनाओंको, आचार-विचारको किंवा संस्थाओंको धर्मवाद स्थायी महत्त्व दे देता है। उनके लिये शाश्वत अलौकिक शक्तियोंका समर्थन पैदा करता है। फिर यह कहता है कि यही परमेश्वरका आदेश या संकेत है। साथ ही यह भी दिखाया जाता है कि यह ऋषियों और महात्माओंको साक्षात् होनेवाला महान् सत्य है। उसका परिणाम यह होता है कि विशेष देश-कालमें और विशेष परिस्थितिमें कुछ आचार-विचारोंको जो महत्व प्राप्त होता है, वह तो परिस्थितिके बदल जानेपर नष्ट हो जाता है, किन्तु उनकी छाया बाकी रह जाती है। धार्मिक कल्पनाओंकी यह छाया परम्परा बन कर प्रगतिके मार्गमें पग-पग पर रुकावट पैदा करने लगती है। उन धार्मिक रूढ़ियोंसे पैदा होनेवाली अपौरुषेयता, ईश्वर-संकेत, कर्मविपाक इत्यादि कल्पनायें स्थायी बनकर सामाजिक परिवर्तन, उत्कर्ष तथा सुधारके मार्गमें रोड़ा अटकाकर प्रगतिकी विरोधी बन जाती हैं। ये ही धार्मिक रूढ़ कल्पनायें मानवकी अधोगतिका कारण होती हैं। सारा मानव-इतिहास इसका साक्षी है। धर्म अथवा पारलौकिक भावनावाले विशेष ध्येय, भावना, आचार-विचार तथा परम्परायें ही प्रगतिके लिए बाधक होती हैं। मनुष्यकी बनाई हुई और पाल-पोस कर रखी गई धर्म

तथा ईश्वरसम्बन्धी कल्पनायें उसीपर हावी हो जाती हैं और उसकी गिरावटका कारण बन जाती हैं। इसी लिये अब हमें ऐसे ध्येयों और कल्पनाओंकी आवश्यकता है, जिनका आधार बुद्धिवाद हो और जिनको उनकी आवश्यकताके समाप्त होते ही बदला जा सके। धर्म नामक कल्पनाको अब छुट्टी दी जानी चाहिये। धार्मिक कल्पनाओंका तीसरा दोष यह है कि धार्मिक संस्थायें सत्ताधारी लोगोंके प्रभावमें रहती हैं। वे धार्मिक कल्पनाओं तथा धार्मिक विचारधाराका उपयोग जनताको गुलामी और अज्ञानमें बनाये रखनेके लिये ही करते हैं। ये लोग ईश्वरवाद, अमरत्व, पाप-पुण्य, कर्म-विपाक आदिका उपयोग अपनी सामाजिक स्थिति, सत्ता एवं भोग-साधनोंको चिरस्थायी बनानेके लिये ही करते हैं। सभी धर्मोंका इतिहास यही बताता है कि जाति-भेदसे पैदा हुई विषम व्यवस्था, उसके लिये बनाये गये कानून तथा अस्पृश्यताकी रूढ़िको धार्मिक कल्पनाओंने ही हजारों वर्षोंसे जीवित रखा है। साधारण-से भौतिक स्वार्थके लिये भी रहस्यपूर्ण अध्यात्मवादका खूब उपयोग किया जाता है।

यह मानना सर्वथा अशुद्ध है कि भौतिकवाद अनैतिक होता है और रहस्यपूर्ण अध्यात्मवाद नैतिक होता है। रहस्यपूर्ण अध्यात्मवादमें ही तो घृणित भौतिकवाद समाया हुआ है और तात्त्विक भौतिकवादके भीतर ही अत्यन्त उच्च कोटिका अध्यात्मवाद ओत-प्रोत है। मानवी जीवनका अध्यात्मवाद मनुष्यकी बौद्धिक एवं मानसिक उन्नति ही तो है। जब तक समाजके सारे घटकोंके प्रतिदिनके योग-क्षेमकी ठीक ठीक व्यवस्था नहीं हो जाती, जब तक शिक्षा तथा कलाके द्वार सब मनुष्योंके लिये पूरी तरह खोल नहीं दिये जाते और जबतक प्रगतिके समस्त साधन समाजके सभी घटकोंके लिये सुलभ नहीं बना दिये जाते, तबतक समाजमें श्रेष्ठ स्वरूपका अध्यात्मवाद प्रकट नहीं हो सकता। आत्माका अर्थात् मनुष्यकी

शक्तियोंका विकास करना ही मानवी जीवनका अध्यात्मवाद है। इस विकासके लिये सृष्टिकी समस्त शक्तियोंकी सहायता विज्ञान एवं कलाके द्वारा प्राप्त करना ही तात्त्विक भौतिकवाद है। उच्च सामाजिक ध्येयोंकी साधनाका ही अर्थ है अध्यात्मवाद *।

(७) ईश्वरकी सत्ताकी सिद्धिके लिये कुछ प्राचीन एवं आधुनिक विचारक कहते हैं कि मनुष्य जातिका धार्मिक अनुभव ही ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण है। एक भी ऐसा समाज नहीं है, जिसमें धार्मिक संस्था विद्यमान न हो। जंगली जातियोंसे लेकर सुधारके शिखरपर पहुँचे हुए समाज तकमें सभीमें धार्मिक संस्थाका अस्तित्व है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्यको आन्तरिक एवं बाह्य इन्द्रियोंसे विश्वका जैसा अनुभव सदा होता रहता है, वैसा ही ईश्वरकी अलौकिक सत्ताका भी अनुभव होता रहता है। यह सच है कि कुछ मनुष्य धार्मिक नहीं होते और उनकी धर्ममें श्रद्धा नहीं होती। जन्मसे अन्धे लोगोंको जैसे प्रकाश एवं रंगका ज्ञान नहीं होता वैसे ही इन नास्तिकोंको भी ईश्वरकी सत्ता अनुभव नहीं होती। परंतु सामान्यतया ऐसे लोग ही अधिक होते हैं, जिनमें धार्मिक श्रद्धा रहती है। अभिप्राय यह हुआ कि असंख्य मानव किसी न किसी स्वरूपमें अलौकिक दिव्य शक्तिको स्वीकार या अनुभव करते हैं। यह स्वीकृति और संवेदना सबमें एक ही स्वरूपकी नहीं रहती। जंगली जातियोंकी धार्मिक कल्पना एवं सुधरे हुए शिक्षित समाजके तत्त्ववेत्ता साधुओंकी धार्मिक कल्पनामें बहुत अन्तर रहता है। फिर भी वे अलौकिक शक्तिके अस्तित्वकी प्रतीति समान रूपमें अवश्य करते हैं। उस प्रतीतिमें भी उन सामाजिक परिस्थितियोंकी छाया अवश्य रहती है, जिनमें वे रहते हैं। उसीके अनुसार उनकी कल्पनायें छोटी या बड़ी रहती हैं। इसी कारण

---

* हिन्दू धर्मकी समीक्षा पृष्ठ १५४ से १५८

उनमें भेद दिखाई देता है। हीन समाज-संस्थाके असंस्कृत मनुष्योंका धार्मिक अनुभव साधारण एवं अस्पष्ट होता है और उच्च सामाजिक स्थितिके मनुष्योंका विशेषकर साधुओंका धार्मिक अनुभव अधिक शुद्ध और स्पष्ट होता है। सर्वत्र पाया जानेवाला यह धार्मिक अनुभव ही ईश्वरकी सत्ताका मुख्य प्रमाण है।

इसका उत्तर यह है कि धार्मिक अनुभवके नामसे जिस भावनाका उल्लेख किया गया है, वह वस्तुस्थितिका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कहा जा सकता। धार्मिक भावनाका स्वरूप यदि वस्तुस्थितिका प्रत्यक्ष अनुभव है, तो उसको सभीने प्रामाणिक माना होता। मनुष्यके बुद्धिवादका सही आधार प्रत्यक्ष अनुभव ही तो है। श्रद्धा ही धार्मिक भावनाका आधार होती है। श्रद्धाका अर्थ प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। उसके उत्पन्न होनेके कारण अनेक हैं। बड़े बूढ़े लोग बचपनसे जिस प्रकारकी कल्पनाओंके संस्कार बच्चोंपर डालते रहते हैं, वे ही दृढ़मूल होकर श्रद्धाका रूप धारण कर लेते हैं। मनुष्य-जातिकी श्रद्धाका इतिहास यह बतलाता है कि मनुष्य-जातिने आजतक कितनी ही खरी और खोटी कल्पनाओंसे बनी अंध श्रद्धाको अपनाया है। गहरी अंध श्रद्धाके कारण अनेक प्रकारके प्रत्यक्ष आभास होते हैं और तरह-तरहकी भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। धार्मिक श्रद्धाको गहरा पैठानेके लिये लोग जिन साधनोंका उपयोग करते है, वे परमेश्वर-सम्बन्धी ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव पैदा नहीं करते, जिसे वास्तविक कहा जा सके। धार्मिक प्रवचन, पुराण, कथा-कीर्तन, उत्सव, श्रद्धा, पूजा, भजन इत्यादिसे पैदा होनेवाले धार्मिक संस्कार लोगोंके हृदयमें धार्मिक कल्पनाओंको ही जन्म दिया करते है। उन कल्पनाओंको उत्पन्न करनेके लिये धार्मिक संस्थायें एड़ी-चोटीका प्रयत्न किया करती हैं। वे

कल्पनायें कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हैं। वे कवि-कल्पनायें जैसी रहती हैं और कवि-कल्पना जिस प्रकारकी राग द्वेष आदिकी भावनाओंका निर्माण करती हैं, उसी प्रकार ये कल्पनायें भी वैसी ही भावनाओंको उत्तेजित करती हैं। यह विश्वास कि कवि-कल्पनाका विषय वास्तविकतामें नहीं रहा करता, कवि-कल्पनाका अनुभव करते समय हमारे मनमें जिस प्रकार सुप्त एवं जागृत रूपमें रहता है, वैसा विश्वास धार्मिक कल्पनाओंको अनुभव करते समय नहीं होता। इसके विपरीत धार्मिक मनुष्यको धार्मिक कल्पनाओंका विषय सत्य ही प्रतीत होता है। इसी कारण धार्मिक कल्पनाओंमें भावना किंवा भावावेश पैदा करनेकी शक्ति कवि-कल्पनाकी अपेक्षा बहुत अधिक रहती है। किसी संस्थाका सदस्य बन जाने और नित्य प्रति धार्मिक आचरण करनेसे वह शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि सत्य सृष्टिकी वास्तविकता भी सर्वथा मिथ्या तथा गौण और काल्पनिक सृष्टिकी सत्य एवं मुख्य प्रतीत होने लगती है। जैसे जैसे समय बीतता जाता है, वैसे वैसे धार्मिक संस्कार लगातार गहरे और दृढ़ होते चले जाते हैं। फल इसका यह होता है कि जिस धार्मिक सृष्टिका कुछ भी अस्तित्व नहीं होता, वह अथवा सर्वथा मिथ्या धार्मिक जगत् केवल कल्पनाका ही विषय नहीं रह जाता, अपितु प्रत्यक्ष अनुभवका विषय बन जाता है। इस प्रत्यक्ष अनुभवका तात्पर्य यह समझना चाहिये कि वह दीर्घ प्रयत्नसे मनुष्यद्वारा निर्माणकी गई और अपने ऊपर लादी हुई एक भ्रान्ति ही है। इस धार्मिक सृष्टि अथवा धार्मिक जगत्का अभिप्राय ईश्वर, जीवात्मा, अदृश्य रूपमें संचार करनेवाले सूक्ष्म शरीरधारी महात्मा, देवता, स्वर्ग, सात लोक इत्यादिसे है। ये वस्तुयें वास्तवमें काल्पनिक और मिथ्या हैं, परन्तु धर्मशील अन्तःकरणको अथवा दुर्बल किन्तु भावनाशील मनको निरन्तर श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनसे सत्य प्रतीत होने लगती हैं और

अत्यन्त भावनावश होनेसे प्रत्यक्ष-सी ही प्रतीत होती हैं। पूर्व संस्कारों तथा उनमें चित्तको निरन्तर लगाये रखनेसे और भावनाके आवेशसे यह प्रतीति होती है। वह केवल कोरी कल्पनाका ही सारा खेल होता है। वह बनावटी होता है; वास्तविक नहीं होता।

(८) धार्मिक लोग कहा करते हैं कि ईश्वरकी सत्ताका एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है साधुओं अथवा ऋषियोंका दिव्य एवं अलौकिक अनुभव। साधुओंके अन्तःकरणमें ईश्वरीय सत्ताकी स्फूर्ति पैदा होती है। यह स्फूर्ति सामान्य लोगोंके हृदयमें पैदा नहीं होती। इसीसे ईश्वरकी सत्ताके सम्बन्धमें संशय उत्पन्न होता है। धार्मिक लोगोंके कहनेके अनुसार इन्द्रियोंसे किये जानेवाले अनुभवकी अपेक्षा इस स्फूर्तिसे होनेवाला अनुभव कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है। इसीलिये साधुओंके इस अनुभवको अन्य लोगोंको स्वीकार करना चाहिये। हिमालयके मानसरोवरको देख आनेवालोंके वचनोंको जैसे वे लोग प्रामाणिक मानते हैं, जो वहाँ नहीं गये हैं और जैसे अपनी माताके कहने पर हम यह विश्वास कर लेते हैं कि हम अमुक माताके पुत्र हैं, वैसे ही साधुओंके ईश्वर-विषयक शब्दोंपर भी हमें विश्वास करना चाहिये।

इस बारेमें सबसे पहली और बड़ी बात यह है कि सब साधुओंके ईश्वरविषयक अनुभवोंमें समानता नहीं है। एक ही वस्तुके सम्बन्धमें यदि परस्परविरोधी अनुभव होते हों, तो उनमेंसे किस अनुभवको सत्य माना जाय, इसका निर्णय हमें तर्कशास्त्रके नियमोंसे करना पड़ता है। ऐसा कहना अनुचित होगा कि सारे अनुभव सत्य हैं। भिन्न भिन्न धर्मग्रन्थोंको पढ़नेसे यह प्रकट है कि ईश्वरके सम्बन्धमें भिन्न भिन्न साधु-महात्मा भिन्न भिन्न एवं परस्परविरोधी अनुभव बताते हैं। कुछ कहते हैं कि विश्व एवं ईश्वर भिन्न हैं। कुछ कहते हैं कि ईश्वर विश्वरूप ही है। कुछ कहते हैं